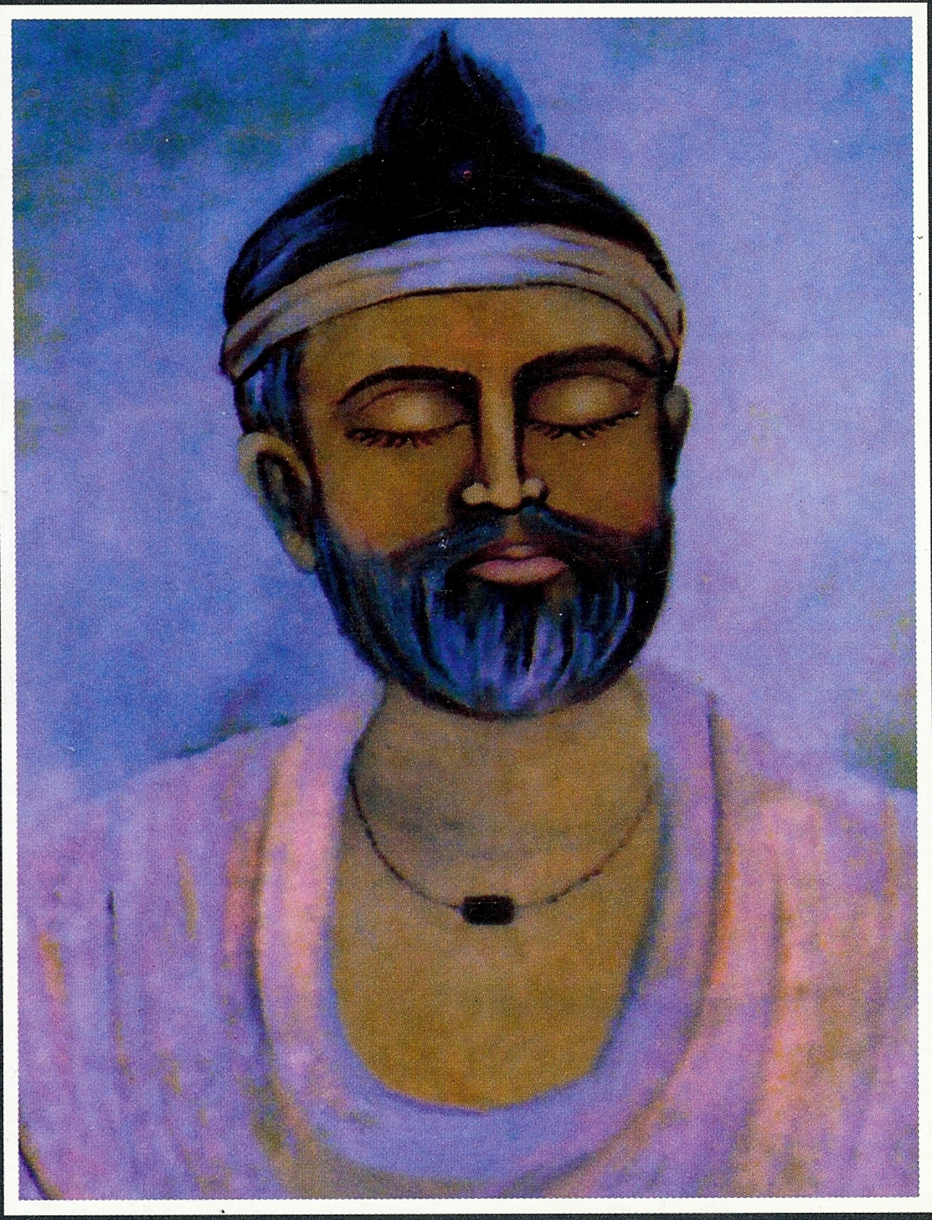
कबीर

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी



उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

BVP - 1925

8/2/18

27/66

कबीर

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
6, महात्मा गांधी मार्ग, हजरतगंज, लखनऊ

ग्रन्थमाला संख्या-1

प्रकाशक

डॉ० सुधाकर अदीब

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

लखनऊ

स्मृति संरक्षण योजना के अन्तर्गत प्रकाशित।

प्रथम संस्करण : 1997

द्वितीय संस्करण : 2005

तृतीय संस्करण : 2011

चतुर्थ संस्करण : 2012

ISBN : 978-93-89989-03-2

प्रतियाँ : 500

मूल्य : ₹ 40=00 (चालीस)

मुद्रक

प्रकाश पैकेजर्स

गोलागंज, लखनऊ

प्रकाशकीय

कबीर के असाधारण कवि और चिंतक के रूप में उनके अप्रतिम योगदान से कौन परिचित नहीं है। भारत के लोकमानस से लेकर प्रबुद्ध वर्ग तक सभी उनके कायल हैं। धार्मिक–सांस्कृतिक आडम्बरों पर संत कबीर ने जितनी गहरी और स्वाभाविक चोट अपनी रचनाओं के माध्यम से की है, विरले ही कर पाए हैं। कविता उनके निकट बौद्धिक होने का प्रमाण पत्र बटोरने की कोशिश नहीं लगती, एक मानवीय और संवेदनशील समाज के लिए एक संघर्ष करती मशाल सरीखी बन जाती है। वस्तुतः कबीर आत्मिक चेतना के पर्याय हैं, इसलिए वह अमर हैं। उन्हीं के शब्दों में कहें तो –

मन मुवा माया मुई, संशय मुवा शरीर।
अविनाशी जो न मरे, तो क्यों मरे कबीर।।

ऐसे विहंगम व्यक्तित्व को 60 पृष्ठ की पुस्तिका में समेट पाना सामान्य स्थितियों में लगभग असम्भव है। फिर भी, सुप्रसिद्ध साहित्यकार डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने अपनी इस कृति – कबीर – के माध्यम से इसे कर दिखाया है। डॉ० तिवारी ने इसमें कबीर का समुचित मूल्यांकन करते हुए ठीक ही लिखा है कि भेदभाव उनके निकट मिथ्या थे और ऊँच–नीच का विचार व्यर्थ। वाह्याडम्बर का सत्य से कुछ लेना–देना नहीं। शास्त्र ज्ञान मनुष्य को भ्रमित अधिक करता है। विषय–वासनाएँ भी अर्थहीन हैं। असली सत्य है – स्वतंत्रता, समानता, सघनता और शुद्धता।

इस सत्य को उद्‌घाटित करने का कबीर का अपना विशिष्ट अंदाज है। 'जो उबरा सो डूब गया, जो डूबा सो पार' जैसी पंक्तियाँ जहाँ जीवन और उसके कार्यजगत में गहरे डूबने पर बल देती हैं, वहीं – 'सुखिया सब संसार है खावे ओ' सोवे। दुखिया, दास कबीर है जागे औ रोवे। सरीखी पंक्तियाँ इससे वीतरागिता नहीं, जूझना सिखाती हैं। ऐसे अनेकानेक उदाहरणों के साथ डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने इस पुस्तिका – कबीर – को छः अध्यायों में बाँटा है – संक्षिप्त जीवनवृत्त एवं तत्कालीन सामाजिक–सांस्कृतिक पर्यावरण, कबीर की समाज दृष्टि और मानव परिकल्पना, कबीर का प्रेमादर्श, कबीर की उलटबासियाँ और कुछ पारिभाषिक शब्द। इन सभी में असाधारण कवि और चिंतक व्यक्तित्व के एक के बाद

अनेक पहलू खुलते जाते हैं और प्राणि–मात्र की अमूल्य धरोहर – कबीर – आज और अधिक प्रासंगिक लगते हैं। यह कृति यह स्पष्ट करने में भी पूरी तरह सफल रही है कि क्यों कबीर भक्तिकाल की ज्ञानाश्रयी शाखा के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि हैं।

इस असाधारण लेखकीय योगदान के लिए डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के प्रति आदर और सम्मान व्यक्त करते हुए उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान स्वाभाविक रूप से 'कबीर' के इस तृतीय संस्करण के प्रकाशन अवसर पर प्रमुदित है। आशा है, सभी वर्गों के पाठकों के बीच 'कबीर' एक बार फिर चिंतन के विषय बनेंगे। सामाजिक सरोकारों के महाकवि संत कबीर को वास्तव में जितनी बार पढ़ा और समझा जाता है, हमें उनका अध्ययन उनके प्रति और अधिक आत्मीय एवं जिज्ञासु बनाता है।

डॉ० सुधाकर अदीब
निदेशक

प्रथम संस्करण की भूमिका

एक सन्त और कवि के रूप में कबीर का नाम शायद ही किसी के लिए अपरिचित हो। कबीर उन कवियों में हैं जो विद्वान और अशिक्षित दोनों वर्गों तक अपनी अद्‌भुत पहुँच रखते हैं। उनके काव्य–रसिकों में एक ओर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ, क्षितिमोहन सेन और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे प्रकाण्ड पंडित हैं तो दूसरी ओर गाँवों में रहने वाले वे निरक्षर लोग भी जिन्होंने कबीर की वाणी को श्रुति परम्परा में सुरक्षित रखा है। कबीर 'कागद की लेखनी' में विश्वास नहीं करते थे। वे 'आँखिन की देखी' का बयान कर रहे थे। इसीलिए वे शास्त्र के विरुद्ध लोक का सच व्यक्त कर रहे थे। पोथियों की जगत प्रेम को महत्व दे रहे थे। रूढ़ियों, कर्मकाण्डों और पाखण्डों की जगह मनुष्य मात्र की एकता का प्रतिपादन कर रहे थे। वे मनुष्यता को खंडित करने वाली नाना प्रकार की उपाधियों की धज्जियाँ उड़ा रहे थे। इसी अर्थ में वे क्रांतिकारी थे। उन्होंने अपने अनुभव से समझा लिया था कि मनुष्य का मन ही उसका सबसे बड़ा दुश्मन है। वही उसे काम, क्रोध, मद, लोभ में फँसा कर दुर्गति की ओर ले जाता है। इसीलिए कबीर का आग्रह मन से निग्रह पर है। वे व्यक्तिगत साधना पर बल देते हैं। वे उसे अनेक बुराइयों को मारने का उपदेश देते हैं। कबीर उन सामाजिक विचारकों में नहीं हैं जो मानव–दुर्गति के कारणों के लिए परिस्थिति और राज्य–व्यवस्था पर सारा दोष मढ़ कर खुद को अपनी जिम्मेदारियों से मुक्त कर लेते हैं।

कबीर की कविता लोक को सम्बोधित है, इसलिए उसमें परम्परागत काव्यशास्त्रीय प्रतिमान ढूँढ़ने के बजाय स्वयं उनकी कविता से कुछ नये प्रतिमान निकालने की जरूरत होती है। इसी अर्थ में कबीर की कविता नयी कविता है। जो भाषा, अलंकार, छन्द–विधान, बिम्ब, प्रतीक आदि की पुरानी कसौटियों पर कबीर को कसना चाहेगा उससे कबीर की कविता का बहुत कुछ मूल्यवान अंश छूट जायेगा। वस्तुतः कविता लिख कर 'कवि' की उपाधि से विभूषित होना कबीर का लक्ष्य नहीं था। उनका सीधा लक्ष्य था अंधकार और मोह में भटकते हुए जीवों को सही राह पर लाना। इसके लिए वे उन सबको सम्बोधित कर रहे थे, जिनसे मनुष्य की तात्विक एकता खंडित हो रही थी।

और इन सबसे ऊपर कबीर के भीतर एक विरहिणी नारी भी थी जो अपने खंडित अस्तित्व को अखण्ड बनाने के लिए तड़प रही थी। जो मरणधर्मा क्षण को शाश्वत में बदलने के लिए बेचैन थी। जो अपनी नियति के बुनियादी प्रश्नों से टकरा रही थी। कबीर के रहस्यवाद को इसी पृष्ठभूमि में ग्रहण करना चाहिए।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान की योजना थी कि कबीर पर एक ऐसी पुस्तिका लिखी जाय, जिसमें अति संक्षेप में कबीर के जीवन और काव्य की जानकारी पाठकों को सुलभ हो सके। प्रस्तुत पुस्तक इसी योजना के अनुसार लिखी गयी है। आशा है यह कबीर जैसे महाकवि को कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक पाठकों तक पहुँचा सकेगी।

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

अनुक्रम

संक्षिप्त जीवनवृत्त एवं कबीरकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण

कबीर के जन्म–काल, उनके जन्म–स्थान, उनके माता–पिता, परिवार, निवास–स्थान एवं उनके मृत्यु–काल और मृत्यु के स्थान के बारे में विद्वानों में मतभेद है। यहाँ कबीर–साहित्य के सभी अध्येताओं के मतों की विस्तार से चर्चा संभव नहीं है, अतः कबीर की जीवनी और उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो लगभग मान्य निष्कर्ष है, उन्हीं का उल्लेख करना उपयुक्त समझता हूँ। कबीर के सम्बन्ध में यह लगभग मान्य तथ्य है कि वे सिकन्दर लोदी के समय में थे और स्वामी रामानन्द जी के शिष्य थे। इन तथ्यों के प्रकाश में अधिकांश विद्वानों ने उनके जन्म का संवत् 1455 और मृत्यु का संवत् 1575 स्वीकार किया है जो प्रामाणिक लगता है। इसे स्वीकार कर लेने पर उनका सिकन्दर लोदी, स्वामी रामानन्द और गुरु नानक का समकालीन होना भी सही हो जाता है। कबीर के जन्म–स्थानों के बारे में काशी और मगहर–दोनों का नाम लिया जाता है जिसमें अधिकांश विद्वान काशी को उनका जन्म–स्थान स्वीकार करते हैं। उनके माता–पिता के सम्बन्ध में भी मुख्यतः दो विचार हैं। कुछ लोग उन्हें एक विधवा ब्राह्मणी की सन्तान मानते हैं जिनका पालन–पोषण नीरू और नीमा नामक मुसलमान दम्पति ने किया। कुछ लोग उन्हें जन्म से जुलाहा जाति का तथा नीरू और नीमा की ही वास्तविक संतान मानते हैं। अधिकांश विद्वान इस दूसरे मत के समर्थक हैं जो सही जान पड़ता है। कबीर का निवास–स्थान काशी और मृत्यु–स्थान मगहर प्रसिद्ध है और अधिकांश विद्वानों द्वारा स्वीकृत भी। किंवदंतियों के अनुसार कबीर की स्त्री का नाम लोई और पुत्र का नाम कमाल था। इसका मतलब यह कि उन्होंने वैवाहिक जीवन व्यतीत किया था और एक कर्मयोगी गृहस्थ होते हुए भी संत थे। वे सहज और आडंबरहीन जीवन व्यतीत करते थे। उनके इस सन्त जीवन का इतना प्रभाव था कि उनके अनुयायी उन्हें अवतारी पुरुष और ईश्वर तक मानते हैं। उनके बारे में अनेक चमत्कारी कथाएँ प्रचलित हैं जो सहज रूप में विश्वसनीय नहीं प्रतीत होतीं।

कबीर की जीवन–कथा की ही तरह उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में भी पर्याप्त मतभेद है। कबीर के नाम से उपलब्ध साहित्य की प्रामाणिकता और उसके पाठ–निर्धारण का प्रयास विद्वानों द्वारा हुआ है। कबीरपंथियों में बीजक कबीर का मानक ग्रंथ रहा है। उनकी रचनाएँ तीन रूपों में प्राप्त हैं–रमैनी, साखी और सबद या शब्द या पद। 'रमैनी' शब्द का प्रयोग संसार में जीवन के रमण के अर्थ में, वेद–शास्त्र आदि में रमण करने के अर्थ में तथा एक छन्द विशेष के अर्थ में हुआ है। 'साखी' शब्द संस्कृत के 'साक्षी' का तद्‌भव है। 'साक्षी' वह है जिसने स्वयं अपनी आँखों से देखा हो।

कबीर ने स्वयं साक्षात्कार किया था, इसलिए अपनी उक्तियों को 'साखी' कहा है। 'सबद' का प्रयोग 'पद' के अर्थ में या ब्रह्म सम्बन्धी विचारों के अर्थ में किया गया है। रमैनी, साखी और सबद के अतिरिक्त कबीर के नाम से अन्य काव्य–रूपों में लिखा साहित्य भी प्राप्त होता है पर उसकी प्रामाणिकता के बारे में सन्देह है। वस्तुतः कबीर की रचनाएँ स्वयं कवि के द्वारा नहीं बल्कि भक्तों और अनुयायियों के द्वारा लिपिबद्ध की गई हैं। ये भक्त और अनुयायी विभिन्न प्रान्तों और अनेक भाषा–क्षेत्रों के थे। कबीर स्वयं एक भ्रमणशील सन्त थे। जिनकी वाणी पर अनेक बोलियों और भाषाओं का प्रभाव पड़ा होगा। अतः उनका जो साहित्य प्राप्त होता है, उसका पाठ–निर्धारण एक समस्या है। फिर भी विद्वानों ने कठिन श्रमपूर्वक इस महान सन्त कवि की वाणियों को पाठकों के सामने लाने का प्रयास किया है।

कबीर का समय (विक्रम की 15वीं शताब्दी) भारतीय इतिहास में उथल–पुथल और बिखराव का समय है। लोदी वंश (1451–1526 ई०) के सत्तारूढ़ होने के कुछ पहले (1398 ई०) भारत का तैमूर के दिल दहला देने वाले भयानक हमले को सहना पड़ा था। तैमूर के सिपाहियों ने लाखों लोगों की हत्या की थी। फिर भी वह तो तूफान की तरह आया और चला गया मगर जो यहाँ के मुसलमान शासक थे, उनकी धर्मान्धता भी कम नहीं थी। कबीर के समकालीन सिकन्दर लोदी (1486–1517 ई०) के ही बारे में कहा जाता है कि उसने इस्लाम के प्रचार में हजारों हिन्दुओं की हत्याएँ करवाईं। संभव है कि उसके द्वारा कबीर को तंग करने वाली

अनुश्रुति भी सही हो। कबीर के काव्य में धर्मान्धता के विरुद्ध जो आक्रोश है, उसकी यही पृष्ठभूमि है। कबीर ने सुना और स्वयं देखा था धर्मान्धता के कारण लोगों को उत्पीड़ित होते। उनके काव्य में तत्कालीन इतिहास की बर्बरता के विरुद्ध तीखी प्रतिक्रिया स्पष्ट है।

ऐसी राजनीतिक अस्थिरता के समय सामाजिक जीवन का व्यवस्थित रहना संभव नहीं है। मुस्लिम आक्रमणकारियों के इस देश में बस जाने के बाद यहाँ स्पष्ट रूप से हिन्दुओं और मुसलमानों के दो वर्ग बन गये थे। एक वर्ग विजेता था, दूसरा विजित। विजित वर्ग का होने के कारण हिन्द जाति के भीतर एक प्रकार की निराशा व्याप्त थी। मुसलमानों से अपनी रक्षा के प्रयास में उसकी वर्णव्यवस्था और भी कड़ी होती जा रही थी। उधर मुसलमानों के भी दो स्पष्ट वर्ग बन गये थे। एक शासकों और उनके उच्चपदस्थ अधिकारियों आदि का था और दूसरा साधारण सैनिकों और उनके परिवारों–सम्बन्धियों आदि का। शासक और उनके उच्चपदस्थ अधिकारी ऐशो–आराम और विलासिता की जिन्दगी जी रहे थे। उनमें प्रजा के प्रति दायित्वबोध बहुत कम था। वे प्रायः अपनी गद्दी की सुरक्षा या उसके विस्तार में लगे हुए थे। जो धार्मिक उल्मा लोग उनके द्वारा विशेष सुविधाएँ पाकर साधारण लोगों से ऊपर विशिष्ट वर्ग में प्रतिष्ठित थे, वे शासकों को मानवीय आधार पर सही सलाह न देकर अपनी धर्मान्धता के वशीभूत होकर गलत राह दिखा रहे थे। मुसलमान धर्म ग्रहण कर लेने पर हिन्दुओं को कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त हो जाती थी। समाज में उनकी स्थिति थोड़ी बदल जाती थी। इसलिए प्रलोभनों के कारण भी हिन्दू लोग धर्म परिवर्तन करते थे। इसके बचाव में हिन्दू पंडितों ने अपने धार्मिक विधानों को और कठोर बना दिया था। एक बार मुसलमान बन जाने के बाद किसी व्यक्ति का पुनः अपने धर्म में लौटना असंभव था। हिन्दुओं के प्रभावस्वरूप मुसलमानों में भी जातिगत भेदभाव बढ़ने लगा था। बाह्याडंबरों की प्रधानता हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों में ही हो गई थी, जिनके चलते वास्तविक मानवधर्म लुप्त हो रहा था। कबीर के काव्य में हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों ही धर्मों के बाह्याचारों और बाह्याडंबरों का तीव्र विरोध हुआ है।

कबीरकालीन समाज में निम्नवर्ग या सामान्य जन की हालत बहुत दयनीय थी। क्योंकि उसके पास धन नहीं था, अतः समाज में उसका कोई आदर नहीं था।[1] इस निम्नवर्ग में केवल हिन्दू नहीं थे, मुसलमान भी थे। निम्नवर्ग के हिन्दुओं और मुसलमानों की आर्थिक–सामाजिक हालत एक ही समान थी। ये शासन–व्यवस्था का संचालन करने वाले वर्ग से अलग अपनी रोजी–रोटी के संघर्ष में लगे हुए थे। अधिकारीवर्ग के लोग असली हुक़ूमत इसी वर्ग पर करते थे और कर का बोझ इसी वर्ग को वहन करना पड़ता था। सैनिकों द्वारा लूटपाट का शिकार भी प्रायः इस वर्ग को होना पड़ता था। जैसा कि कहा जा चुका है, शासकवर्ग अपनी विलासिता में डूबा हुआ था। शासन–व्यवस्था शिथिल हो गई थी। किसी भी व्यक्ति के लिए थोड़ी सी सेना एकत्र करके विद्रोह कर देना या लूटपाट मचा देना या स्थानीय शासक बन जाना आश्चर्य की बात न थी। इस सबका संकट प्रजा को ही झेलना पड़ता था। आक्रमणकारियों का प्रभाव मुख्यतः नगरों पर होता था, अतः नगरों के जीवन में उथल–पुथल अधिक थी लेकिन इसके साथ ही वहाँ का जीवन विलासितापूर्ण भी था क्योंकि शासक और उच्चवर्ग के लोग वहीं रहते थे। गाँवों का जीवन अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण था लेकिन इसके साथ ही वहाँ के लोगों का जीवन आर्थिक दृष्टि से विपन्न था। कृषि ईश्वर और भाग्य के भरोसे होती थी। बीच–बीच में अकाल भी पड़ जाते थे। जो पैदावार होती थी, उसमें भी राज्य कर देना पडता था। इसके अलावा स्थानीय अधिकारी बहुत क्रूरतापूर्ण व्यवहार करते थे।[2] कभी–कभी तो किसान को विवश होकर अपनी जमीन छोड़कर भाग जाना

---

1. निर्धन आदर कोइ न देई। लाख जतन करै ओहु चित न धरेइ।।
जो निर्धन सरधन कै जाई। आगै बैठा पीठ फिराई।।
जौ सरधन निर्धन कै जाई। दीया आदर लिया बुलाई।।
— कबीर ग्रंथावली : श्यामसुन्दर दास, परिशिष्ट, पृष्ठ 230

2. गाँइ कु ठाकुर खेत कु नैपै, काइथ खरच न पारै।
जोरि जेवरी खेति पसारे, सब मिलि मोकों मारै हो राँम।
खोटो महतौ विकट बलाही, सिर कसदम का पारै।
बुरौ दिवांन दादि नहिं लागै, इक बाँधे इस मारै हो राँम।।
धरमराइ जब जब लेखा माँग्या, बाकी निकसी भारी।
पाँच किसानों भाजि गये हैं, जीव घर बांध्यौ पारी हो राँम।।
— कबीर ग्रंथावली : श्यामसुन्दर दास, पद 222, पृष्ठ 121

पड़ता था। कबीर के काव्य में अपने समय के इस जनजीवन का सीधा चित्रण तो नहीं हुआ है पर उनकी कविता अनेक प्रसंगों में संकेतों के द्वारा अपने समय के अभिजात्य और निम्नवर्ग के जीवन के द्वन्द्व तथा वैषम्य को प्रस्तुत करती है। एक पद में कबीर अपने मिट्‌टी के घर की दुर्दशा का बयान करते हैं जो जर्जर हो चुका है और वर्षा ऋतु में टपकने के कारण और भी कष्टदायक हो जाता है।[3] इसी प्रकार एक पद में वे अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की माँग करते हैं। क्योंकि भूखे में भक्ति नहीं हो सकती।[4] इस प्रकार के अन्य कई संकेत कबीर की रचनाओं में यत्र–तत्र मिल जाते हैं।

कबीरकालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति बहुत दयनीय हो गई थी। पुरुषप्रधान समाज में उनकी नागरिकता आज भी दूसरी श्रेणी की नागरिकता है। उस समय तो उनकी हैसियत का और भी बदतर होना स्वाभाविक था। उस समय उच्चवर्ग की स्त्रियों का क्षेत्र घर के भीतर ही था। वे विलासिता की वस्तु थीं। निम्नवर्ग की स्त्रियाँ घर के बाहर भी काम काज में पुरुष का हाथ तो बँटाती थीं, पर घर के निर्णयों में उनका कोई महत्व नहीं होता था। वैसे परदा उनके लिए भी जरूरी हो गया था। मुस्लिम आक्रमणों और राजनीतिक लूटपाट के उस युग में नारियों की सुरक्षा हेतु उन्हें परदे में रखना आवश्यक था। किसी भी स्त्री के रूप पर आकर्षित होकर शासकों या स्थानीय अधिकारियों द्वारा उसका जबरदस्ती अपहरण सामान्य घटना थी। स्त्रियों का रूप भीषण लड़ाइयों तक का कारण बन जाता था। सन्त–काव्य में स्त्री के सती रूप को प्रेम का आदर्श माना गया है। जाहिर है संत–कवियों को स्त्री के आत्मबलिदान ने तो प्रभावित किया, किन्तु स्त्री

---

3. इब न रहूँ माटी के घर मैं
इब मैं जाइ रहूँ मिलि हरि मैं।।
छिनहर घर अरु झिरहर टाटी, घन गरजत कँपै मेरी छाती।।
— वही, पद 273, पृष्ठ 135

4. भूखे भगति न कीजै। यह माला अपनी लीजै।।
दुई सेर माँगउ चूना। पाउ घीउ संगि लूना।।
अधसेर माँगउ दाले। मोकउ दोनउ बखत जिवाले।।
खाट माँगउ चउपाई। सिरहाना अवर लुनाई।।
ऊपर कउ माँगउ सीधा। तेरी भगति करै जनु बीधा।।
— उद्धृत, मध्यकालीन संत साहित्यः रामखेलावन पाण्डेय, पृष्ठ 108

का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उनके लिए 'माया' से अधिक कुछ नहीं था। स्वयं कबीर ने स्त्री को काली नागिन[5] और नरक का कुंड[6] कहा है। तात्पर्य यह कि संतों, भक्तों, शासकों और सामान्य नागरिकों–सबकी ओर से स्त्री को उस काल में उपेक्षा ही मिली।

कबीर के युग में भारतीय धर्मव्यवस्था भी बहुत विशृंखल हो गई थी। पूरे देश में अनेक मत–मतान्तर प्रचलित थे। सबसे अधिक प्रभाव वैष्णव भक्ति आन्दोलन और नाथपंथी योगियों का था। इस्लाम के अन्तर्गत एक तो काजी और मुल्ला थे जो अधिक कट्टर थे तथा दूसरे प्रेम की साधना करने वाले उदार सूफी थे। पर इन सभी में बाह्याचारों की प्रधानता हो चली थी। तत्कालीन समाज प्रायः दो भागों में विभक्त हो गया था। एक ओर साधु–संन्यासियों के संगठन थे और दूसरी ओर साधारण गृहस्थ। सामाजिक धार्मिक अव्यवस्था के मूल कारण साधु संन्यासियों के संगठन ही थे क्योंकि उस काल में ऐसे संगठनों का बाहुल्य और प्राधान्य हो गया था। कुछ भस्म रमाते थे और सिर पर जटा धारण करते थे। कुछ गेरुआ वस्त्र धारण करते थे। कुछ दिगम्बर थे। कुछ बाघाम्बर धारण करते थे। कुछ के सिर मुंडित होते थे। कुछ मौन धारण किये रहते थे। गोरखबानी के अनुसार दंडी, कापड़ी, पावड़ी, नागा, मौनी, दूधाधारी आदि साधु थे।[7] कबीर साहित्य में विभिन्न प्रकार के साधु संन्यासियों की एकाधिक बार चर्चा हुई हैः–

जोगी जती तपी संन्यासी, अहनिसि खोजैं काया।।[8]

X X X X X X

मुनिपर पीर डिगंबर मारे, जतन करंता जोगी।
जंगल महि के जंगम मारे, तूँर फिरै बलवंती।।
वेद पढ़ंताँ ब्राह्मण मारा, सेवा करताँ स्वामी।

---

5. कांमिनी काली नागिनी, तीनिउं लोक मंझारि।
रांम सनेही ऊबरै, बिखई खाए झारि।
– कबीर ग्रंथावली : पारसनाथ तिवारी, बिखै बिकार कौ अंग, पृष्ठ 232

6. नारी कुंड नरक का, बिरला थामै बागि।
कोई साधू जन ऊबरै, सब जग मूवा लागि।।
– वही, पृष्ठ 233

7. गोरखबानी, पद 39, 49, 79, 96

8. कबीर ग्रंथावली : श्यामसुन्दर दासः पद 192, पृष्ठ 114

अरथ करंताँ मिसिर पछाड्या, तूँरे फिरे मैमंती।।[9]
इक पढ़हिं पाठ, इक भ्रमैं उदास, इक नगन निरन्तर, रहैं निवास।
इक जोग जुगुति तन हूँहि खींन, ऐसे राम नाम संगि रहै न लीन।
इक हूँहि दीन एक देहि दांन, इक करैं कलापी सुरापांन।।
इक तंत मंत औषध बांन, इक सकल सिद्ध राषै अपानं।।
इक तीरथ ब्रत करि काया जीति, ऐसे रांम नांम सूं करैं न प्रीति।
इक धोम घोंटि तन हूँहि स्याम, यूं मुकुति नहीं बिन रांम नांम।[10]

तात्पर्य यह कि कबीर के काल में योगी, तपी, संन्यासी, मुनि, पीर, दिगंबर, जंगम, ब्राह्मण–तरह–तरह के मत मतान्तरों वाले साधक साधु थे। कोई योग की करामातों से शरीर को क्षीण कर रहा था तो कोई तीर्थ व्रत के द्वारा। कोई मदिरापान को साधना समझ बैठा था तो कोई तंत्र–मंत्र और औषधियों के चमत्कार को। इनके साथ ही मुस्लिम संतों, फकीरों और सूफियों के अलग संगठन थेः–

पीरौं मुरीदाँ काजियाँ, मुलां अरु दरबेस।
कहाँ थे तुम्ह किनि कीये, अकलि है सब नैस।।[11]

ये सारे सम्प्रदाय संगठन जनसाधारण से कटे हुए अपनी–अपनी डफली बजा रहे थे। इनमें आपसी संघर्ष भी होता रहता था। कभी–कभी तो आपस में हथियार भी चल जाते थे। वैसे वाद–विवादों का होना तो आम बात थी। हर पंथ अपने को दूसरे से श्रेष्ठ बताता घूमता था। ये लोग जनसाधारण को आतंकित भी करते थे। जनसाधारण अशिक्षित और मूर्ख था। उसमें धर्मभीरुता अधिक थी। वह जैसे राजाज्ञा से डरता था, वैसे ही इन साधु–संन्यासियों से भी। धर्म के नाम पर अंधविश्वासों का बोलबाला था। देवी–देवता, भूत–प्रेत इन कमजोरियों का लाभ पंडित, मुल्ला और साधु संन्यासी उठाते थे। स्त्रियों में यह अंधश्रद्धा और अंधविश्वास और भी अधिक था।

यह था कबीरकालीन सामाजिक सांस्कृतिक पर्यावरण। नितान्त जड़ और रूढ़िग्रस्त। अंधश्रद्धा और अंधविश्वास से पूर्ण। बाह्याडंबर और बाह्याचारों से युक्त। कबीर की अक्खड़ता और उनकी सम्पूर्ण मानसिकता को इसी पृष्ठभूमि में सही–सही समझा जा सकता है।

---

9. वही, पद 187, पृष्ठ 113
10. वही, पद 386, पृष्ठ 163
11. कबीर ग्रंथावली : श्यामसुन्दर दास, पद 257, पृष्ठ 130

कबीर की समाज दृष्टि और मानव-परिकल्पना

यद्यपि कबीर समाजसुधारक नहीं थे और न ऐसा संकल्प लेकर ही वे आगे बढ़े, फिर भी उन्हें समाजसुधारक की पदवी मिल गयी। इसका श्रेय उन युगीन परिस्थितियों को है जिनके बीच कबीर जन्मे और जिन्दा रहे। वे परिस्थितियाँ जीवन के सभी क्षेत्रों में भयावह अव्यवस्था, विषमता और अंधश्रद्धा की परिस्थितियाँ थीं। उनको तोड़ने के लिए अपनी प्रखर वाणी में कबीर ने जो कुछ कहा, वही उनके समाजसुधारक होने का प्रमाण बन गया। पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं, 'कबीर ने ऐसी बहुत सी बातें कही हैं जिनसे (अगर उपयोग किया जाय तो) समाज सुधार में सहायता मिल सकती है, पर इसीलिए उनको समाज सुधारक समझना गलती है। वस्तुतः वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। समष्टिवृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था। वे व्यष्टिवादी थे। भक्ति तत्व की व्याख्या करते--करते उन्हें उन बाह्याचार के जंजालों को साफ करने की जरूरत महसूस हुई है जो अपनी जड़ प्रकृति के कारण विशुद्ध चेतन तत्व की उपलब्धि में बाधक हैं। यह बात ही समाज सुधार और साम्प्रदायिक ऐक्य की विधात्री बन गयी। पर यहाँ भी यह कह रखना ठीक है कि वह भी फोकट का माल या बाईप्रोडक्ट ही है।'[1]

कबीर एक आध्यात्मिक पुरुष थे। उनका सारा जीवन अध्यात्म साधना में बीता था। उनका सारा संघर्ष मुख्यतः आध्यात्मिक और नैतिक था। वे दुख का एकमात्र कारण मन के विकारों को ही मानते हैं।

जोगी दुखिया जंगम दुखिया तपसी कौं दुख दूनां हो।
आसा त्रिसनां सबकौं ब्यापै कोई महल न सूना हो।[2]

वे मन को जीत लेने को ही सुख का एकमात्र रहस्य बतलाते हैं--

अवधू दुखिया भूपति दुखिया रंक दुखी विपरीती हो।
कहै कबीर सकल जग दुखिया संत सुखी मन जीती हो।।[3]

---

1. कबीर : हजारीप्रसाद द्विवेदी : पृ. 223, 226
2. कबीर ग्रंथावली : पारसनाथ तिवारी : पृ. 53 (पद 90)
3. कबीर ग्रंथावली : पारसनाथ तिवारी : पद 90, पृ. 53

कबीर का सारा संघर्ष और उनका सारा उपदेश इसी मन को जीतने के लिए है। इसीलिए वे नैतिक आचारों और नियमों पर बार–बार जोर देते हैं। इन नैतिक आचारों और नियमों की प्रतिष्ठा ही उनका वास्तविक 'धर्म' है। कहना न होगा कि वास्तविक धर्म भी यही है शेष सब आडंबर है। कबीर ने इसी वास्तविक और सहज धर्म को स्वीकार करते हुए आडंबरों को चुनौती दी। दूसरी बात यह कि कबीर सारी सृष्टि में एक ही ज्योति व्याप्त मानते हैं। उसी एक की सत्ता स्वीकार करते हैं। शेष सब नश्वर हैं:–

पीर मुवा पैगंबर मूवा मूवा जिंदा जोगी।
राजा मूवा परजा मूवा मूवा बैद और रोगी।।
चंदौ मरिहै सुरजौ मरिहै मरिहै धरनि अकासा।
चौदह भुवन चौधरी मरिहै काकी धरिअै आसा।।
नौ हू मूवा दस हू मूवा मूवा सहस अठासी।
तैंतिस कोटि देवता मूए परे काल की पासी।।
एकहिं जोति सकल घट व्यापक दूजा तत्त न होई
कहै कबीर सुनौ रे संतौ भटकि मरै जनि कोई।।[4]

कबीर की यह अद्वैतवादी अभेद दृष्टि भला सामाजिक भेदभाव को स्वीकार कैसे कर सकती थी? इसलिए कबीर ने जीवन के हर क्षेत्र में भेदभाव का विरोध किया। अतः कहा जा सकता है कि कबीर की सदाचारप्रधान नैतिक दृष्टि और अभेदवादी आध्यात्मिक दृष्टि ही उस युग के लिए एक प्रगतिशील सामाजिक दृष्टि भी बन गई।

कबीर का समय भारतीय इतिहास में उथल–पुथल और बिखराव का समय है। यह उथल–पुथल और बिखराव जितना राजनीति के क्षेत्र में था, उतना ही धर्मव्यवस्था के क्षेत्र में। शासन व्यवस्था जितनी अस्थिर और जन विरोधी थी, धर्म व्यवस्था उतनी ही विशृंखल। पूरे देश में अनेक मत मतान्तर प्रचलित हो गये थे। ऐसी राजनीतिक धार्मिक अस्थिरता के युग में सामाजिक जीवन का व्यवस्थित रहना संभव नहीं था। हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों में बाह्यडंबरों की प्रधानता हो चली थी, जिनके चलते वास्तविक मानवधर्म लुप्त हो रहा था। दोनों ही रूढ़ियों और अंधविश्वासों

4. वही, पद 105 पृ. 61

से ग्रस्त थे। कबीर ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के बाह्याचारों का तीव्र विरोध किया। उन्होंने दो टूक भाषा में कहा कि शरीर को मल–मल कर चमकाने से कोई लाभ नहीं क्योंकि असली गंदगी उसके भीतर है।[5] सिंगी और मुद्रा चमकाने या विभूति लगाने से क्या फायदा? असली हिन्दू और मुसलमान तो वह है, जिसका ईमान दुरुस्त है।[6] यदि मन के विकारों को नहीं त्यागा जा सका तो घर को त्याग कर वन में बसने से क्या होगा? जटा बढ़ाना या भस्म पोतना या गुफा में निवास करना सब बेकार है। यदि मन को जीतकर उसे विषय वासनाओं से मुक्त कर लिया गया तो सारे संसार को जीत लेने के बराबर है।[7] नंगा रहने या चमड़ा लपेटने से क्या होता है? नंगा रहने से यदि मुक्ति मिलती तो वन के मृगों की नहीं मिल जाती? मूड़ मुड़ाने से यदि सिद्धि होती तो भेड़ें क्या स्वर्ग में नहीं पहुँच जातीं?[8] हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों से जवाब–तलब करते हुए कबीर ने कहा कि मस्जिद में सिर नवाना और काबा जाना या जप करना और एकादशी रहना, दोनों व्यर्थ है यदि खुदा मस्जिद में रहता है तो अन्य स्थान क्या खुदा से रहित है? राम और रहीम को दिल में ढूँढ़ो, उन्हें पूरब और पश्चिम दिशा में ढूँढ़ना व्यर्थ है।[9] जो अल्लाह दिल के भीतर ही है

---

5. काया मांजसि कौन गुनां। घट भीतरि है मलवां।
   ह्रिदै कपट मुखि ग्यानी। झूठे कहा बिलोवसि पानी।
   — कबीर ग्रंथावली : पारसनाथ तिवारी, पद 171, पृष्ठ 99
6. का सींगी मुद्रा चमकाएं। का विभूति सब अंग लगाएं।।
   सो हिन्दू सो मुसलमान। जिसका दुरुस रहै ईमान।। — वही, पद 172, पृष्ठ 100
7. बनहिं बसें का कीजिअै जौ मन नहीं तजै बिकार।
   घर बन समसरि जिनि किया ते बिरला संसार।।
   का जटा भसम लेपन किए कहा गुफा मैं बास।
   मन जीतैं जग जीतिअै जौ बिखिया तैं रहै उदास।। — वही, पद 173, पृ. 100
8. का नांगे का बांधे चांम। जौ नहि चीन्हसि आतमरांग।।
   नांग फिरे लोग जौ होई। बन का मिरग मुकुति गया कोई।।
   मूड़ मुडाए जौ सिधि होई। सरगाहिं भेंड़ न पहुँची कोई।। — वही, पद 174, पृ. 101
9. क्या ऊंजू जप मंजन कीएं, क्या मसीति सिरु नाएं।
   दिल महि कपट निवाज गुजारै, क्या हज काबै जाएं।।
   बांह्मन ग्यारसि करे चौबीसौ, काजी मंह रमंजाना।
   ग्यारह मास कहौ क्यूं खाली एकहि मांहि नियानां।।
   जौ रे खुदाई मसीति बसतु है और मुलुक किस केरा।
   तीरथि मूरति राम निवासी, दुहु महिं किनहु न हेरा।।
   पूरब दिसा हरी का बासा पच्छिम अलह मुकामा।
   दिल महिं खोजि दिलै दिलि खोजहु, इहंई रहीमा रामा।।— वही, पद 177, पृष्ठ 103

उसे बाहर जोर–जोर से पुकारने का क्या अर्थ है?[10] कबीर की दृष्टि में निर्जीव मूर्ति के लिए सजीव फूल–पत्ती तोड़ना और उसे मूर्ति पर चढ़ाना उचित नहीं।[11] यह कबीर की उदार आत्मवादी दृष्टि है जो मनुष्य से आगे वनस्पति जगत में स्पंदित जीवन को भी महत्व देती है। कबीर ने ब्राह्मण से पूछा कि यदि वह ब्राह्मण है तो किसी अन्य रास्ते से पैदा क्यों नहीं हुआ? उन्होंने तुर्क से पूछा कि यदि वह तुर्क है तो उसने गर्भ में ही खतना क्यों नहीं करा लिया?[12] उन्होंने पंडित और पांडे को सम्बोधित करके कहा कि छुआछूत का विचार व्यर्थ है।[13] यह सब सिर्फ उसके मन का भ्रम है।[14] उन्होंने काजी को भी सम्बोधित करके कहा कि उसके सारे आडंबर मिथ्या और तर्कहीन हैं। यदि सुनति कराकर तुर्क होना है तो औरत का क्या होगा? यदि यज्ञोपवीत धारण करके ब्राह्मण होना है तो वह स्त्री को क्यों नहीं पहनाया जाता?[15] इस प्रकार कबीर ने पंडित, पांडे, मुल्ला, काजी

---

10. मुला मुनारै क्या चढ़हि, अलह न बहिरा होई।
    जेहिं कारनि तू बांग दे, सो दिल ही भीतरि जोइ।। — वही, साखी 3, पृ. 225
11. पाती तोरे मालिनी पाती पाती जीउ।
    जिसु मूरति कौं पाती तौरे, सौ मूरति निरजीउ।।
    टांचनहारै टांचिया दै छाती ऊपरि पाउ।
    जे तूँ मूरति सांचि है तो गढ़न हारै खाउ।।
    लाडू लावन लापसी पूजा चढ़ै अपार।
    पूजि पुजारा लै गया दै मूरति कै मुहिं छार।। — वही, पद 187 पृ. 109
12. जे तूं बाभन बमनीं जाया। तौ आनं बाट होइ काहे न आया।।
    जे तूं तुरुकिनीं जाया। तौ भीतरि खतनां क्यूं न कराया।। — वही, पद 182, पृ. 106
13. पंडित देखहु मन में जानी।
    कहु धौ छूति कहाँ से उपजी, तबहिं छूति तुम मानी।
    — कबीरबीजक : डॉ. शुकदेव सिंह पृ. 125
14. बेद किताब छाड़ देव पांडे, ई सब मन के भर्मा।
    कहै कबीर सुनो हो पांडे, ई सब तुम्हरे कर्मा।। — वही पृ. 127
15. काजी तुम कौन किताब बखानी।
    झंखत बकत रहो निसि बासर, मति एकौ नहिं जानी।।
    सक्ति अनुमाने सुनत करत हौ, मै न बदोंगा भाई।
    जो खोदाय तेरा सुनति करत है आपहि काट न आई।।
    सुमति कराय तुर्क जो होना, औरत को क्या कहिये।
    अर्ध सरीरी नारि बखानी, ताते हिंदुइनि रहिये।
    पहिरि जनेउ जो ब्राह्मन होना, मेहरि क्या पहिराया।।
    वीय जन्म की सुद्रिन परसै, तुम पांडे क्यों खाया।।
    हिंदू तुर्क कहां तो आया, किन्ह यह राह चलाई।
    दिल में खोज देख खुजादे, भिस्त कहां से आई।। — वहीं पृ. 136

सबको फटकारा। ये ही उस समय की सामाजिक नैतिकता के ठेकेदार थे। कबीर ने इन्हें अस्वीकार किया। उन्होंने मंदिर–मस्जिद, रोजा–नमाज, व्रत–एकादशी, तीर्थ–मूर्ति, वेद–कुरान, माला–तस्वीह, पीर–पैगम्बर सबको अस्वीकार किया। कबीर की इस साहसपूर्ण अस्वीकृति के पीछे कोई शास्त्र या कोई दर्शन नहीं था। न किसी गहरे संस्कार की जकड़न थी। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सही लिखा है जितने प्रकार के संस्कार पड़ने के रास्ते हैं वे प्रायः सभी उनके लिए बन्द थे। वे मुसलमान होकर भी असल में मुलसमान नहीं थे, हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे, वे साधु होकर भी साधु (अगृहस्थ) नहीं थे, वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे, योगी होकर भी योगी नहीं थे।[16] संस्कारों की जकड़न से मुक्त कबीर इसी प्रकार किसी शास्त्र और दर्शन की गिरफ्त में भी नहीं थे। यदि ऐसा होता तो वे पौराणिक हिन्दू धर्म पर इस तरह बेलाग प्रहार न करते। वस्तुतः शास्त्रीय मर्यादाएँ समाज में यथास्थिति की पोषक होती हैं। कबीर क्रांतिकारी थे। सामाजिक स्तर पर वे यथास्थिति को तोड़ना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने बाह्याचारों पर प्रहार करते हुए शास्त्र को भी चुनौती दी। इस चुनौती के पीछे उनकी सहज दृष्टि थी जो उनके सहज धर्म को उद्घाटित करती है। कबीर का धर्म सहज धर्म था। इस धर्म का आधार मन की शुद्धता है। प्रत्येक धर्म आचार को महत्व देता है। उसके कुछ विधि निषेध होते हैं। कबीर ने भी आचारों को महत्व दिया। किन्तु वे उनके बाह्य आडंबरों को अस्वीकार करते हैं। वे बाह्य से अधिक भीतर की ओर जाते हैं। वे शुद्ध सात्विक मन और पवित्र विचार पर जोर देते हैं। वे सत्य, संतोष, परोपकार, अहिंसा को अपनाने तथा काम, क्रोध, मद, लोभ, और तृष्णा को छोड़ने की बात करते हैं। वे पांडे और मुल्ला को इसीलिए फटकारते हैं कि वह भीतर को नहीं बाहर को महत्व देता है। कबीर की कसौटी दूसरी है। इस कसौटी पर वैष्णव उन्हें अच्छा लगता है। और शाक्त शूकर श्वान से भी गया बीता दिखाई देता है। कबीर की यह कसौटी है मन। इसी मन के द्वारा मनुष्य गोरख के समान सिद्ध योगी हो सकता है और परमात्मा का पद प्राप्त कर सकता है।[17] यह मन बड़ा चंचल है। यह कजरी वन में मतवाले हाथी के

16. कबीर : हजारी प्रसाद द्विवेदी : पृ. 186
17. मन गोरख मन गोबिन्द, मन ही औधड़ होइ।
    जो मन राखे जतन करि, तौ आपै करता सोइ।।
    – कबीर ग्रंथावली : पारसनाथ तिवारी, मन कौ अंग, पृ. 226

समान है। इसके लिए ज्ञान का अंकुश जरूरी है।[18] यह पानी से भी पतला है, धुआँ से भी सूक्ष्म है और पवन से भी अधिक वेग वाला है।[19] इस मन को अपनी साधना के द्वारा वश में करके ही वास्तविक आनन्द की प्राप्ति संभव है।[20] यदि मन गाफिल हो गया और प्रभु के स्मरण में प्रवृत्त नहीं हुआ तो यम के दरबार में उसको भयानक कष्ट भोगना पड़ेगा।[21] इसलिए मन के चंचल मृग को कठिन साधना के कमान से मारना आवश्यक है।[22] यदि ऐसा न किया गया तो मन विषय–वासनाओं की ओर जायेगा। स्त्री, पुत्र और कामिनी की ओर जायेगा। विषय वासनाओं की तृष्णा कभी तृप्त नहीं होती। कबीर इन्हें त्यागने की सलाह देते हैं। वे कनक और कामिनी को विष के समान भयानक मानते हैं।[23] वे कामिनी को सर्पिणी के समान खतरनाक बताते हैं।[24] उनके अनुसार नारी की प्रीति में फँसने वाला मनुष्य अपने लिए नरक का रास्ता तैयार करता है।[25] कामी पुरुष इंद्रियों के स्वाद

18. काया कजरीबन अहै, मन कुंजर मैमंत।
अंकुस ग्यानं रतन है, खेवट बिरला संत।।

— वही, पृ. 228

19. पानी हूं तै पातरा, धूंवा हूं तै झींन।
पवना बेगि उतावला, सो दोस्त कबीरै कींन।।

— वही, पृ. 228

20. मैंमंता मन मारि रे, नन्हा करि करि पीसि।
तब सुख पावै सुंदरी, पदुम झलक्कै सीसि।।

— वही, पृ. 230

21. कबीर मन गाफिल भया, सुमिरन लागै नांहि।
घनीं सहैगा सासना, जम की दरगह मांहि।।

— वही, पृ. 230

22. काया कसौ कमांन ज्यौ पंच तत्त करि बांन।
मारौ तौ मन मिरिग कौ, नहिंतर मिथ्या जांन।।

— वही, पृ. 231

23. एक कनक अरू कांमिनी, बिरव फल किया उपाइ।
देखे ही तै बिख चढ़ै, खाए तैं मरि जाइ।।

— कबीर ग्रंथावली :पारसनाथ तिवारी : विरवै बिकार कौ अंग पृ. 223

24. कांमिनी सुंदर सर्पिनी, जो छेडै तिहिं खाइ।
जे हरि चरनां राचिया, तिनकैं निकटि न जाइ।।

— वही, पृ. 234

25. नारी केरी प्रीति सौं, केते गये गडंत।
केते अजहूं जात है, नरकि हसंत–हसंत।। — वही, पृ. 233

के लिए अपना जन्म व्यर्थ कर देता है।[26] कबीर ने सिद्धों का मुक्त इन्द्रिय भोग देखा था जो सहज के नाम पर विनाशकारी हो चला था। सिद्ध जीवन का प्रकृत उपभोग करते हुए परमपद प्राप्त करने में वे विश्वास रखते थे। वे चित्तवृत्तियों के निरोध को स्वीकार नहीं करते थे, किन्तु विषयों में स्मरण करते हुए भी वे उनमें लिप्त होना ठीक नहीं मानते थे। वे भोग को अनासक्त भोग मानते थे। सहजानन्द की अवस्था उनके लिए ऐसी अवस्था है, जिसमें सांसारिक भोग और निर्वाण दोनों में कोई अन्तर नहीं मालूम पड़ता। इस स्थिति में पहुँच जाने पर मन को कोई बाधा नहीं पहुँचती। फिर चाहे वह नाचे, गाये या विलास करे।[27] किन्तु इस सहजानन्द की प्राप्ति है बहुत कठिन। एक ही साथ मुक्त और मर्यादित भोग कितना कठिन है इसकी कल्पना की जा सकती है। इसीलिए आगे चलकर व्यवहार में सहज असहज हो गया। नाथ योगी जिसे सहज मानता है वह भी सामरस्य की अवस्था है। इसके लिए वह हठयोग का विधान करता है। वह भी यह मानता है कि सूर्य–चन्द्र के मेल से या शिव–शक्ति के सामरस्य ये योगी जब उन्मनी अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो सहज की अवस्था में पहुँच जाता है। फिर वह चाहे जो करे और जैसे रहे, कोई फर्क नहीं पड़ता। कबीर ऐसा नहीं मानते। वे विषय–भोग को कभी स्वीकार नहीं करते। वे हमेशा मन की शुद्धता की बात करते हैं और हर हालत में विषय–वासनाओं से दूर रहने की सलाह देते हैं। सिद्धों का सहज महासुख है। जो पंचकामगुणों का भोग करते हुए अर्थात खाते–पीते सूरत में रमण करते हुए प्राप्त होता है। अतः इसमें शरीर का विशेष महत्व है, किन्तु कबीर शरीर को ही सबसे बड़ी बाधा मानते हैं।[28] उनके अनुसार शरीर की भूख ही विषय–वासनाओं में लिप्त करती है। इन वासनाओं में मनुष्य जितना ही लिप्त होता है उसकी तृष्णा उतनी ही बढ़ती चली जाती

26. भगति बिगाडी कांमिया, इंद्री कोरै स्वादि।
हीरा खोया हाथ तै, जनम गंवाया बादि।।

— वही, पृ. 233

27. गम्मागम्म ण जाणइ मत्तोचित्त गअन्द।
जइजग पूरिअ सहजानन्दे। णाच्चहु गाबहु बिलसहु चंगे।।

— सरह (दोहाकोश : राहुल सांकृत्यायन)

28. आधुनिक कबीर : डॉ. राजदेव सिंह, पृ. 115, 117

है। अतः इनका त्याग ही उचित है। कबीर कहते हैं कि जो सहज रूप से विषयों को त्याग देता है उसी को सहज करना चाहिए। जो अपनी इंद्रियों को वश में रखता है वही सहज है। कबीर की दृष्टि में सहज मार्ग वह है जिस पर चलकर सहज ही प्रभु की प्राप्ति हो जाय।[29] इस सहजावस्था में भी सभी द्वन्द्वों का शमन हो जाता है। यह समरसता की अवस्था है जिसे मध्यम मार्ग कहा गया है। कबीर ने इस मध्यम मार्ग को महत्व दिया है। उनके अनुसार जो इस मध्यम मार्ग को ग्रहण करता है वह भव सागर को सरलतापूर्वक पार कर जाता है। डूबता वह है जो द्वन्द्व के चक्कर में रहता है। दुनिया को त्यागकर एक मार्ग (मध्यम मार्ग) का अनुसरण करना चाहिए। कबीर ने उस रास्ते को छोड दिया जिस पर पंडित चलते हैं या जिस पर लोगों की भीड़ चलती हैं। दोनों रास्ते उनके लिए व्यर्थ थे। उन्होंने देख लिया था कि हिन्दू राम–राम रटते हुए नष्ट हो रहे हैं और मुसलमान खुदा–खुदा रटते हुए। इसीलिए वे दोनों के भेद में नहीं पड़े। इस भेद–बुद्धि के समाप्त होने पर काबा ही उनके लिए काशी बन गया और राम ही रहीम हो गये।[30] कबीर ने जिस सहजता को

---

29. सहज–सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
जिहि सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोइ।।
सहज–सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोइ।
पाँचों राखै पसरती, सहज कहीजै सोइ।।
सहजै–सहजै सब गए, सुत वित कांमिनी काम।
एक मेक हवै मिलि रहा, दास कबीरा राम।।
सहज–सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिहिं सहजै साहिब मिलै, सहज कहीजै सोइ।।
– कबीर वाणी पीयूष : जयदेव सिंह, वासुदेव सिंह पृ. 97, 98

30. कबीर मधि अंग जे को रहै, तौ तिरत न लागै बार।
दुइ–दुइ अंग सूँ लाग करि, डूबत है संसार।।
कबीर दुविधा दूरि करि, एक अंग हवै लागि।
यहु सीतल बहु तपति है, दोऊ कहिए आगि।
जिहि पैडै पंडित गए, दुनियाँ परी बहीर।।
औघट घाटी गुर कही, तिहिं चढ़ि रहा कबीर।
हिन्दू मूये राँम कहि, मुसलमान खुदाइ।।
कहै कबीर सो जीवता, दुइ मै कदे न जाइ।
काबा फिर कासी भया, राँमहि भया रहीम।।
मोट चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम।
– कबीर वाणी पीयूष : जयदेव सिंह, वासुदेव सिंह पृ. 103, 106

स्वीकार किया, वह सभी प्रकार की असहजता के विरुद्ध हैं उन्होंने वेशभूषा की, रहन–सहन की साधना की, आचार की और विचार की हर तरह की असहजता का विरोध किया।

कबीर ने अपने समय के मनुष्य को अच्छी तरह देखा पहचाना था। उन्होंने देख लिया था कि सब अपने–अपने अहं में डूबे हुए हैं। कोई अपने को ज्ञानी कहता है, कोई त्यागी और कोई इन्द्रियों को जीतने वाला। कोई अपने को जोगी कहता है कोई भोगी। कोई अपने को दाता कहता है, कोई तपस्वी। लेकिन ये सब झूठे हैं, इनमें से किसी का अपने आत्मदेव से परिचय नहीं है।[31] योगी अपने ध्यान के घमण्ड में है, पंडित अपने पुराण ज्ञान के घमण्ड में है, तपस्वी अपने तप के घमण्ड में है और संन्यासी भी अपने ही अहं में डूबा हुआ है।[32] कबीर इस अहं को हरि के साक्षात्कार में सबसे बड़ी बाधा मानते थे।[33] इसीलिए इनमें से कोई भी उनका अपना नहीं हो सकता था।[34] उन्हें कोई ऐसा नहीं मिला जिसे अपना माने। उन्होंने देख लिया था कि सारा संसार अपनी–अपनी आग में जल रहा है।[35] ऐसा कोई

---

31. कोई कहै मैं ग्यानी रे भाई, कोई कहै मैं त्यागी।
कोई कहै मैं इंद्री जीती, अहं समनि कौ लागी।
कोई कहै मैं जोगी रे भाई, कोई कहै मैं भोगी।
मैं तैं आया दूरि न डारा, कैसे जीवै रोगी।।
कोई कहै मैं दाता रे भाई कोई कहै मैं तपसी।
निज तत नांड निहचै नहिं जानां सब माया मैं खपसी।।
कोई कहै मैं जुगती जानौ कोई कहै मैं रहनी।
आतमदेव सौं परचा नाहीं यहु सब झूठी कहनीं।।
— कबीर वाणी पीयूष : पारसनाथ तिवारी, पद 195, पृ. 113

32. जोगी माते धरि धियान। पंडित माते पढ़ि पुरान।
तपा जु माते तप कै भेव। संन्यासी मातें अहंमेव।। — वही, पद 198, 115

33. जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि हैं मैं नाहि।
सब अंधियारा मिटि गया दीपक रेखा मांहि।।

34. कोई फेरै माला कोई फेरै तसबी। देखौ रे लोगा दोनों कसबी।।
कोई जावै मक्के कोई जावे कासी। दोऊ के गलि परि गई पासी।।
कहत कबीर सुनौ नर लोई। हम न किसी के न हमरा कोई।।
— वही, पद 193, पृ. 112

35. अैसा कोई ना मिलै, जासौं रहिए लागि।
सब जग जरता देखिया, अपनी अपनी आगि।।
— वही, गुरसिख हेरा कौ अंग, पृ. 159

नहीं जो उन्हें उपदेश दे जो उन्हें भवसागर से उबार ले।[36] ऐसे में कबीर जिसे अपना मान सकते थे, वह उनका अनुभव और विवेक ही हो सकता था। कबीर इसी 'आत्मानुभव' और विवेक को अपना प्रमाण मानते हैं तथा वेद–पुराण का ज्ञान वहन करने वाले को चंदन का भार ढोने वाले गधे के समान मानते हैं।[37] इसी के आधार पर वे सभी सम्प्रदायों को, सभी रास्तों को गलत बताते हैं तथा सभी की खिल्ली उडाते हैं। कबीर के लिए यह 'आत्मानुभव' और विवेक ही सब कुछ है। वे सबसे इसी को खोजने का आग्रह करते हैं।[38] कबीर ने इसे खोज लिया था अर्थात अपने को पा लिया था। अपनी रचनाओं में अनेक बार उन्होंने इस बात को कहा है कि उन्होंने रहस्य को जान लिया है, कि वे नही मरेंगे, कि वे अपनी चादर ज्यों की त्यों रख जायेंगे, कि माया उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकती कि वे अपने राम के साथ एकाकार हो गये हैं कि वे भव सागर को पार कर लेंगे, कि वे हरि पद को प्राप्त कर लेंगे, आदि। कबीर के इस प्रकार के कथनों से कोई उन्हें घमण्डी भी कह सकता है पर यह उनका आत्मविश्वास है। इस आत्मविश्वास का आधार वही 'आत्मानुभव' और विवेक है जिस पर कबीर के पाँव दृढ़ता से जमे हैं। कोई भी व्यक्ति जब चारों ओर से सिमट कर अपने में दृढ़ हो जाता है तो वह सारी दुनिया को ललकार सकता है। कबीर जानते थे कि असली जीत मन की जीत है।[39] मन को जीत लिया तो फिर किसी से भी हारने को नहीं रह जाता। कबीर इस बात को जानते थे कि केवल कथनी पर्याप्त नहीं होती। असली चीज है करनी।[40] अगर करनी ऊँची नहीं है तो व्यक्ति ऊँचे कुल में जन्म लेकर भी छोटा ही बना

---

36. अैसा कोई ना मिलै, हमकौ दे उपदेस।
भौसागर मैं बूड़ते, कर गहि काढ़ै केस।। — वही, पृ. 159

37. बेद पुरान पढ़े का क्या गुनु खर चंदन जस भारा।
राम नाम की गति नहिं जानी कैसे उतरसि पारा।। — वही, पद 191, पृ. 111

38. ता मन कौं खोजहु रे भाई।
तन छूटे मन कहाँ समाई।। — वही, पद 48, पृ. 28

39. मन के हारे हार है, मन के जीते जीति।
कहै कबीर हरि पाइए, मन ही की परतीति।। — वही, मन कौ अंग, पृ. 229

40. कथनीं कथी तौ क्या भया, जौ करनी ना ठहराइ।
कालबूत के कोट ज्यौं, देखत ही ढहि जाइ।।
— वही, करनी कथनीं कौ अंग, पृ. 241

रहेगा।[41] कबीर ने पहले मन को जीता था फिर अपनी करनी को निश्चित किया था और तब जाकर वह आत्मविश्वास प्राप्त किया था जिसके चलते वे पंडित और शेख, अवधू और योगी को आक्रामक की तरह ललकारते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सही लिखा है कि कबीर ने कभी अपने ज्ञान को, अपने गुरू को और अपनी साधना को सन्देह की नजरों से नहीं देखा। अपने प्रति उनका विश्वास कहीं भी डिगा नहीं।[42] वे किसी के पीछे आँख मूँदकर नहीं चले। जो भी उन्हें ठीक नही जँचा, उसे उन्होंने अस्वीकार किया। ढोंग और पाखण्ड को साहस के साथ ललकारा। किसी से समझौता नहीं किया। अपने प्रेम मार्ग का दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन किया। अपने आत्मानुभव और विवेक के अर्जित प्रकाश में कबीर ने साफ–साफ देख लिया था कि भेदभाव मिथ्या है। ऊँच–नीच का विचार व्यर्थ है। बाह्याचार और ब्राह्याडंबर का सत्य से कुछ लेना–देना नहीं। शास्त्र ज्ञान मनुष्य को भ्रमित करता है। विषय–वासनाएँ उसे पतन की ओर ले जाती हैं। ये सब अर्थहीन हैं। असली सत्य है स्वतंत्रता, समानता, सहजता और शुद्धता। कबीर ने अपनी वाणियों में इन्हीं को रेखांकित किया। उनकी मानव परिकल्पना एक ऐसे ही मानव की परिकल्पना है जो स्वतन्त्र विवेक सम्पन्न हो, सहज हो तथा शुद्ध सात्विक आचरण वाला हो। कबीर की कसौटी व्यक्ति का कर्म है। उसके कर्मो के ही आधार पर उसे उच्च या नीच माना जाना चाहिए। जाति, कुल, धर्म और सम्प्रदाय सब बाहरी बातें हैं। कबीर इन सभी कृत्रिमताओं के विरोधी हैं। इन सबके भीतर जो मनुष्य है वह तात्विक रूप से एक है। कबीर ने सारे बाह्याचारों और आवरणों को बेधकर उसी मनुष्य को पहचानने की कोशिश की है। उन्होंने अपने समय की राजनीति का साक्षात्कार नहीं किया। उन्होंने अपने समय की आर्थिक स्थिति का भी विश्लेषण नहीं किया। लेकिन उन्होंने अपने समय के मनुष्य की आत्मा में झाँकने की कोशिश जरूर की। उन्हें लगा कि आत्मा के दर्पण में ही सत्य का प्रतिबिम्ब पाया जा सकता है। इसीलिए वे

---

41. ऊँचे कुल क्या जनमिया, जे करनी उंचि न होइ।
सोब्रन कलस सुरै भरा, साधुन निंदा सोइ।।

– वही पृ. 242

2. कबीर : हजारी प्रसाद द्विवेदी : पृ. 197

उसे निर्मल बनाने की उसे निरन्तर माँजते रहने की सलाह देते हैं।[43] वे मन की शुद्धता पर बार–बार जोर देकर एक मर्यादित आचरण की माँग करते हैं। कबीर के बताये इस रास्ते पर चलकर कोई भी मनुष्य उच्चतर मनुष्यता या देवत्व को प्राप्त कर सकता है। समाज में जो प्रतिस्पर्धा है, अशांति है, हिंसा है, छल, कपट और वैषम्य है, उसे कबीर एक पवित्र और मर्यादित आचरण द्वारा ही दूर करना चाहते हैं। यही कबीर की नैतिक दृष्टि है। यही उनकी सामाजिक दृष्टि भी है। इसी अर्थ में उन्हें समाज सुधारक भी कहा जा सकता है। कबीर ने मनुष्य की जिस तात्विक एकता का प्रतिपादन किया है वह किसी भी विचारक के समाज दर्शन की कसौटी हो सकती है इसमें संदेह नहीं।

□□□

43. जौ दरसन देख्या चाहिए, तौ दरपन माँजत रहिये।
जब दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई।।

कबीर का प्रेमादर्श

साधु सती और सूरमाँ इन पटतर कोउ नाहिं।
अगथ–पंथ कौं पग धरैं, डिगैं तो कहाँ समाहिं।।
साधु सती और सूरमाँ कबहुँ न फेरैं पीठ।
तीनो निकसि जो बाहुरैं, ताको मुँह मति दीठ।।
टूटै बरत अकास सो, कौन कहत है झेल।
साधु सती अरु सूर का, अंनी ऊपर खेल।।[1]

यह ध्यान देने की बात है कि तुलसी के प्रेम का आदर्श यदि चातक है तो कबीर के प्रेम के आदर्श हैं सती और सूरमा। सती का प्रेम एकनिष्ठ प्रेम होता है। वह अपने शरीर का त्याग कर अपने निजत्व को खोकर अपने प्रिय–पद को प्राप्त करती है–

सती पुकारै सलि चढ़ी, सुनि रे मीत मसांन।
लोग बटाऊ चलि गए, हम तुम रहे निदांन।।
सती जरन कौं नीकसी, चित धरि एक बिबेक।
तन मन सौंपा पीव कौं, अंतरि रही न रेख।।[2]
सती विचारी सत किया, काठौं सेज बिछाइ।
ले सूती पिव आपणाँ, चहुँ दिसि अगनि लगाई।।[3]

सती के समान ही सूरमा भी जीने मरने की आशा नहीं पालता। मरने के भय से वह रण–क्षेत्र नहीं छोड़ता। अपने शरीर का मोह त्याग कर सिर न्यौछावर कर देता है–

खेत न छांड़ै सूरिवां, जूझै दोउ दल मांहि।
आसा जीवन मरन की, मन में आनै नांहि।।
सूरा सीस उतारिया, छांड़ी तन की आस।
आगां तैं हरि हरखिया, आवत देखा दास।।[4]

---

1. कबीर : हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 200
2. कबीर ग्रंथावली : पारसनाथ तिवारी, पृ. 179–182
3. कबीर ग्रंथावली : श्यामसुन्दर दास, पृ. 55
4. कबीर ग्रंथावली : पारसनाथ तिवारी, पृ. 180–181

सती और सूरमा के आदर्श द्वारा कबीर जिस प्रेम को मूर्त करना चाहते हैं, उनमें आत्मबलिदान को विशेष महत्व प्राप्त है। चातक और मीन के प्रेम में अनन्यता है। चातक केवल स्वाति का जल पीता है। मछली जल से अलग होकर जिंदा नहीं रह सकती। बलिदान यहाँ भी है पर जिन कवियों ने चातक और मीन को अपना प्रेमादर्श चुना है वे इन प्रतीकों के द्वारा बलिदान को रेखांकित न कर अनन्यता को रेखांकित करना चाहते हैं। इसी तरह अनन्यता 'सती' और 'सूरमा' में भी है पर कबीर इन प्रतीकों के द्वारा जिसे रेखांकित करना चाहते हैं वह आत्म बलिदान ही है। वे अपनी अनेक साखियों में बार–बार 'सीस उतारने', 'सीस सौंपने', 'आग' में जलने' तलवार की धार पर चलने तथा सूली पर चढ़ने का बयान करते है। उनका प्रेम सिर देकर ही पाया जा सकता है। उसे जिसने भी पाया है रोकर ही पाया है:–

कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध।
सीस काटि पग तर धरै, तब निकटि प्रेम का स्वाद।।
भगति दुहेली राम की, जस खांडे की धार।
जो डोलै सो कटि पडे, निहचल उतरै पार।।
कबीर यहु घर प्रेम कां, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै हाथ सौं, तब पैसे घर मांहि।।
प्रेम न बारी ऊपजै, प्रेम न हाटि बिकाइ।
राजा परजा जेहिं रुचै, सीस देइ लै जाइ।।[5]
हँसि–हँसि कन्त न पाइये, जिनि पाया तिन रोइ।
जो हँसि–हँसि ही हरि मिलै, तो न दुहागिनि कोइ।।[6]

प्रेम की प्राप्ति के लिए कबीर आत्मबलिदान पर इतना जोर क्यों देते हैं? इसलिए कि प्रेम का मार्ग सब कुछ छोड़ने की माँग करता है। जो सब कुछ को छोड़ नहीं सकता, वइ इस रास्ते पर नहीं चल सकता। त्याग एक कठिन साधना है, वह भी सांसारिक मायाजाल का त्याग। बिना इस कठिन साधना से गुजरे प्रेम की प्राप्ति असंभव है। चंचल मन और लोलुप इंद्रियों से जूझना सचमुच एक युद्ध है। यह युद्ध सूरमा के युद्ध से भी कठिन है।

5. वही, पृ. 181–183
6. कबीर : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 200

सती के बलिदान से भी दृढ़ मनोबल की अपेक्षा रखता है क्योंकि यह संग्राम दो चार पल का नहीं है। यह तो अनवरत संग्राम है क्योंकि उसके लिए सतत जागरूक रहना पड़ता है:–

साध का खेल तो बिकट बेढा नती
सती और सूर की चाल आगे।
सूर घमसान है पलक दो चार का
सती घमसान पल एक लागे।।
साध संग्राम है रैन दिन जूझना
देह पर्जन्त का काम भाई।
कहै कबीर टुक बाग ढीली करै
उलटि मन गगन सों जगीं आई।।[7]

परिचय प्रेम का पहला सोपान है। संत कवियों ने इसे बाग मारना, चिनगी लगाना या विरह जगाना कहा है। प्रेम या विरह का यह बाण ऐसा है कि जब लगता है, तभी पता चलता है। इसका अनुभव या तो मारने वाला कर सकता है या वह, जिसे लगता है। यह जिसे लगता है उसके कलेजे तक को बेध देता है :–

चोट संतानी बिरह की, सब तन जरजर होइ।
मारनहारा जानिहै, कै जिहिं लागी सोइ।।
जबहीं मारा खैंचि करि, तब मैं पाई जांनि।
लागी चोट मरम्म की, गई कलेजा छांनि।।[8]

यह चोट ऐसी है जो व्याकुल कर देती है। हृदय के भीतर एक अदृश्य आग जलने लगती है। न दिन में चैन मिलता है न रात में और न सपने में ही। प्रेम की पीर हर वक्त कलेजे में छाई रहती है। देखते–देखते दिन चला जाता है। रात भी चली जाती है। विरहिणी को प्रिय नहीं मिलता और वह तड़पती रहती है। रास्ता देखते–देखते उसकी आँखों में झाई पड़ जाती है और नाम पुकारते–पुकारते जीभ में छाले। वह पपीहे की तरह पिउ–पिउ की रट लगाये रहती है :–

---

7. वही. पृ. 197
8. कबीर ग्रंथावली: पारसनाथ तिवारी, पृ. 146

चकई बिछुरी रैंनि की, आइ मिलै परभाति।
जे नर बिछुरे राम सौं, ते दिन मिले न राति।।
बासुरि सुख नां रैनि सुख, नां सुख सुपिनै मांहि।
कबीर बिछुड़े राम सौं, ना सुख धूप न छांहि।।
अंखियां प्रेम कसाइयां, जग जाने दूधडियाहं।
राम सनेही कारनै, रोइ रोइ रातडियांह।।
अंखियन तौ झांई परी, पंथ निहारि निहारि।
जिभ्या मैं छाला परा, राम पुकारि–पुकारि।।
कबीर देखत दिन गया, निसि भी निरखत जाइ।
बिरहिनि पिउ पावै नहीं, जियरा तलफत जाइ।।
नैना नीझर लाइया, रहट बहै निस घांम।
पपिहा ज्यौं पिउ–पिउ करौं, कब रे मिलहुगे राम।।[9]

प्रेम का लक्ष्य है प्रेमी और प्रिय की एकता। संतों के अनुसार इस लक्ष्य को प्राप्त करने में सबसे बड़ी बाधा है लोभ और कामना। लोलुपता और वासना जब तक रहेगी, प्रेम का सच्चा स्वरूप प्रकट नहीं होगा। इसके साथ ही अहंकार या निजत्व का बोध भी प्रेम मार्ग की एक बहुत बड़ी कठिनाई है। 'आपा' और 'मैं' की भावना ही द्वैत भाव का कारण है। जब तक यह भावना रहेगी, प्रेम की प्राप्ति असम्भव है:–

पीया चाहे प्रेम रस राखा चाहे मान।
एक म्यान में दो खड़ग देखा सुना न कान।।

माया तजी त क्या भया, जौ मांन तजा नहि जाइ।
मानि बड़े सुनिवर गिले, मांन सभनि कौं खाइ।।[10]

कबीर ने प्रेम मार्ग को 'अगम' और 'अगाध' कहा है। ऐसे कठिन मार्ग पर चलने के लिए भय से मुक्ति जरूरी है। यह भय भी प्रेममार्ग की एक बाधा है। प्रेममार्ग के कष्टों का भय तो होता ही है, लोक और वेद का भय भी कम नहीं होता। लोक वर्जनाओं और वैदिक मर्यादाओं के भय से मुक्त होकर भी प्रेम किया जा सकता है। ज्ञातव्य है कि कबीर को अपने समय में अनेक प्रकार के विरोधों का सामना करना पड़ा था। उन्होंने उन

9. वही, पृ. 141–147
10. कबीर ग्रंथावली : पारसनाथ तिवारी : पृ. 235

बाह्याडंबरों का डटकर विरोध किया जिनका प्रतिनिधित्व पण्डित और मुल्ला कर रहे थे। वस्तुतः उनके शास्त्राभिमान की दीवार के रहते प्रेममार्ग तक पहुँचा ही नहीं जा सकता था। इसीलिए कबीर ने कोरे पुस्तक ज्ञान का विरोध किया:—

पढ़ि—पढ़ि के पत्थर भया, लिखि—लिखि भया जु ईंट।
कहै कबीरा प्रेम की, लगी न एकौ छींट।।
पोथी पढ़ि—पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होइ।।[11]

प्रेम का अंतिम सोपान है मिलन। यह मिलन परकीया का मिलन नहीं है, पतिव्रता का मिलन है—

नैना अंतरि आव तूं, ज्यों हौं नैंन झंपेउं।
नां हौं देखो और कौं, नां तुझ देखन देउं।[12]

कबीर की सुहागिन आरती सजाकर अपने प्रिय को ढूँढ़ने निकल पड़ी है—

आरती साज के चली है सुहागिन,
प्रिय अपन को ढूंढ़न।[13]

उसे नैहर अच्छा नहीं लगता। उसे अपने प्रियतम की नगरी आकर्षित करती है जो परम सुन्दर नगरी है—

नैहरवा हमकाँ नहि भावै।
साईं की नगरी परम अति सुन्दर, जहाँ कोइ जाइ न आवै।
चाँद — सुरुज जँह पवन न पानी, को सन्देस पहुँचावै।।[14]

वह अपने प्रिय से सेज पर चलने का आग्रह करती है:—

ए अँखिया अलसानी, पिया हो सेज चलो।
खंभ पकरि पतंग अस डोलै, बोलै मधुरी बानी।
फूलन सेज बिछाइ जो राख्यो, पिया बिना कुम्हलानी।

---

11. कबीर : हजारी प्रसाद द्विवेदी : पृ. 190
12. कबीर ग्रंथावली : पारसनाथ तिवारी पृ. 176
13. कबीर : हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ. 203
14. वही, पृ. 205

धीरे पाँव धरो पलँगा पर, जागत ननँद–जिठानी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, लोकलाज बिछलानी।[15]

यहाँ पहुँच कर द्वैत की भावना समाप्त हो जाती है। जीवन की आशा पूरी हो जाती है। और दुख आशंका तथा भय नष्ट हो जाता है, प्रेमी और प्रिय दोनों के व्यक्तित्व का एक दूसरे में विलय हो जाता है। आनन्द की धारा उमड़ पड़ती है, जिसमें सब कुछ भीग जाता है। बूँद समुद्र में मिलकर स्वयं समुद्र हो जाती है।

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरष्या आइ।
अंतरि भीगी आत्मां, हरी भई बनराई।।
हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूँद समानी समंद मैं, सो कत हेरी जाइ।।

सगुण भक्त का प्रेम व्यक्त का प्रेम है। वह राम या कृष्ण को अपना आराध्य मानकर अपनी सम्पूर्ण भावनाएँ उनके प्रति अर्पित करता है। उसके प्रिय उसके बाहर हैं। सूरदास अपने नयनों में अपने नंदलाल को बसाना चाहते हैं।[16] तुलसीदास जीव को ब्रह्म नहीं मानते। वे सेवक सेव्य भाव पर जोर देते हैं।[17] इस प्रकार सगुण मत में द्वैत की भावना विद्यमान रहती है। किन्तु संत कवि का प्रेम अव्यक्त का प्रेम है। वह ब्रह्म को जगत में अभिव्यक्त देखता है। वह जीव और ब्रह्म में अभेद मानता है। अतः उसका प्रेम एक ही तत्व की विविध अभिव्यक्तियों का आकर्षण है। सूफी मत में प्रेम को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। उसके अनुसार प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रेम। सूफी साधक विरह को ही प्रेम का सार मानते हैं। क्योंकि विरह से ही प्रेम साकार होता है। कबीर ने भी विरह को बहुत महत्व दिया है।[18] पर कबीर के विरह में विक्षिप्तता या उन्माद नहीं है। उसमें आकुलता और विह्वलता है पर उसके साथ ही उल्लास भी है।

कबीर की भक्ति साधना के मूल में यह प्रेम ही सब कुछ है। इसी के लिए उन्होंने समस्त बाह्याचारों और शास्त्रों को नकार दिया। वेद,

---

15. वही पृ. 206
16. बसो मेरे नैनन में नंदलाल। — सूरदास
17. सेवक सेव्य भाव बिन भव न तरिअ उरगारि। — तुलसीदास
18. बिरहा बिरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलतान।
    जिहि घट बिरह न संचरै, सो घट जानि मसान।। — कबीर

कुरान, मंदिर, अवतार, पैगम्बर, तीर्थ व्रत सब इसके सामने व्यर्थ हैं। यह प्रेम स्वयं अपना साध्य है। यहाँ न दुख है, न द्वन्द्व, न किसी प्रकार की भ्रांति। यह पूर्ण आनन्द स्वरूप है–

गगन की गुफा तहँ गैब का चाँदना, उदय औ, अस्त का नाम नाही।
दिवस औ, रैन तहँ नेक नहि पाइये, प्रेम परकास के सिंधु माही।
सदा आनन्द दुख द्वन्द्व व्यापै नहीं, पूरनांनद भरपूर देखा।
मर्म औ, भ्रांति तहँ नेक आवै नही, कहैं कबीर रस एक पेखा।[19]

कबीर के अनुसार इस प्रेम की कहानी अकथनीय है :–

आपा मेट्या हरि मिलै, हरि मेट्या सब जाइ।
अकथ कहांणी प्रेम की, कह्यां न हो पत्याइ।।

□□□

19. कबीर : हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ. 208

कबीर का काव्य : कविता के नये प्रतिमान

कवि एक जागरूक, संवेदनशील प्राणी होता है। अतः वह अपने अतीत और वर्तमान की विभिन्न विचार सरणियों से प्रभावित होता है। उसके काव्य में अनुभव और विचार के विविध स्तर दिखाई पडते हैं। कबीर के काव्य में भी ऐसा है। कबीर साहित्य का अध्ययन धार्मिक दृष्टि से, दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टि से हो सकता है तथा उसे एक निश्चित ऐतिहासिक सामाजिक पृष्ठभूमि में रखकर भी परखा जा सकता है। कबीर काव्य के अध्येताओं ने ऐसा किया भी है। कुछ लोगों ने कबीर को हिन्दू धर्मानुयायी तथा वैष्णव कहा है। कुछ ने उन्हें वेदान्ती तथा कुछ ने नाथपंथियों से प्रभावित माना है। कुछ ने उन्हें रहस्यवादी, कुछ समन्वयवादी तथा कुछ समाज सुधारक मानते हैं, परन्तु सच्चाई यह है कि कबीर को किसी एक सम्प्रदाय या चौखटे के भीतर रखना ठीक नहीं है। जिस कवि ने अनेक सामाजिक धार्मिक चौखटों का आजीवन विरोध किया हो, उसे किसी खास पैमाने से जाँचना क्या संगत होगा? पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर को 'भगवान' के 'नृसिंहावतार की मानव प्रतिमूर्ति' कहकर इसी सच्चाई को स्वीकार किया है। सचमुच नृसिंह की भाँति ही कबीर भी नाना असंभव समझी जाने वाली परिस्थितियों के मिलन बिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे। फिर भी द्विवेदी जी ने कबीर को मुख्यतः धर्म गुरू माना है और उनकी वाणियों के अध्यात्मिक रस को ही विशेष महत्व देने का आग्रह किया है वे कबीर के भक्त रूप को ही प्रमुख मानते हैं। उनके कवि या समाज सुधारक रूप को नहीं। इस संबंध में द्विवेदी जी का कथन है 'काव्यत्व उनके पदों में फोकट का माल है बाईप्रोडक्ट है वह कोलतार और सीरे की भाँति और चीजों को बनाते–बनाते अपने आप बन गया है। भक्ति तत्व की व्याख्या करते–करते उन्हें उन बाह्याचार के जंजालों को साफ करने की जरूरत महसूस हुई है जो अपनी जड़ प्रकृति के कारण विशुद्ध चेतन तत्व की उपलब्धि में बाधक है। यह बात ही समाज सुधार और साम्प्रदायिक ऐक्य की विधात्री बन गई है। पर यहाँ भी यह कह रखना ठीक है कि यह भी फोकट का माल या बाईप्रोडक्ट ही है।"[1] तो क्या कबीर साहित्य का

1- कबीरः आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 220-221

मूल्यांकन अध्यात्म और भक्ति के संदर्भ मे ही किया जाना चाहिए? स्वयं द्विवेदी जी ने भी ऐसा नहीं किया है। उनके अनुसार 'कबीर की सर्वाधिक लक्ष्य होने वाली विशेषताएँ हैं– सादगी और सहज भाव पर निरन्तर जोर देते रहना, बाह्य धर्माचारों की निर्गम आलोचना और सब प्रकार के विराग भाव और हेतु प्रकृतिगत अनुसंधित्सा के द्वारा सहज ही गलत दिखने वाली बातों को दुर्बोध्य और महान बना देने की चेष्टा के प्रति बैर भाव।[2] स्पष्ट है कि द्विवेदी जी कबीर की सहजता, प्रखरता और उनकी आलोचनात्मक क्रांतिकारी दृष्टि को उनकी सर्वप्रिय विशेषता मानते हैं।

वस्तुस्थिति भी यही है। यदि हम कबीर की रचनाओं का मूल्यांकन साहित्यिक मर्यादा और कलात्मक सौन्दर्य के मानदण्ड पर करने बैठेंगे तो हमें निराशा ही हाथ लगेगी। जिस व्यक्ति ने 'मसि कागद छूयो नहिं, कलम गहयों नहि हाथ, उससे उसकी अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। कायदे से कबीर का काव्य कोई धार्मिक, दार्शनिक या आध्यात्मिक काव्य भी नहीं है। कबीर ने किसी विशेष धर्म दर्शन या सम्प्रदाय की सैद्वान्तिक मान्यताओं का न तो क्रमबद्ध विश्लेषण किया है और न किसी दार्शनिक मत के प्रतिपादन का प्रयास ही किया है। वे पूरे किसी एक सिद्धान्त से प्रभावित भी नहीं कहे जा सकते और न तो वे किसी धर्मग्रन्थ को ही अन्तिम प्रमाण मानकर चलते हैं। इस प्रकार कबीर के काव्य में न कोई शास्त्रीय व्यवस्था है, न कोई निश्चित रचना शैली, न कोई कलात्मक सजावट और न कोई गूढ़ दार्शनिक अध्ययन। फिर भी उनका काव्य महान है इसलिए कि उसका संदेश महान है। वास्तव में कबीर जिस जीवन व्यर्थ का चित्रण करना चाहते थे उसके लिए न तो किसी अध्ययन की जरूरत थी, न किसी शास्त्रीय पंडित्य की। वे जो संदेश देना चाहते थे उसके लिए न तो किसी कलात्मक सौन्दर्य की जरूरत थी, न किसी अलंकृत भाषा की। इसीलिए कबीर का काव्य साहित्यिक मर्यादा की कसौटी पर भले ही खरा न उतरे लेकिन उसने जीवन को एक दिशा जरूर दी। कबीर की वाणी में लोगों को रस भले ही न मिला हो लेकिन उन पर उसका प्रभाव जरूर पड़ा। मेरे विचार से कबीर साहित्य का यह सामाजिक पक्ष ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, कम से कम आज के प्रसंग में तो है ही।

2- वही पृ. 218

कवि जिस काल की उपज होता है उस काल के संस्कारों, विचारधाराओं और काव्यरूढ़ियों से बहुत दूर तक बँधा होता है। कबीर के काव्य में भी प्राप्त धार्मिक आध्यात्मिक दार्शनिक शब्दावली इसी का प्रमाण है। कबीर जिस युग की उपज थे वह धर्मप्रधान युग था और उस युग की मानव चेतना धर्म की व्यवस्था में साँस ले रही थी। कबीर इस धार्मिक शब्दावली को छोड़कर तत्कालीन मानव चेतना को पकड़ नहीं सकते थे। इसीलिए कबीर के काव्य में कर्मवाद के साथ भाग्यवाद भी मिल जायेगा। वे सृष्टि रचना की परम्परागत पौराणिक धारणा में भी विश्वास करते हैं। वे रामायण और महाभारत की अनेक कथाओं का उल्लेख करते हैं। पर इन सबके बावजूद क्या कबीर के काव्य को केवल भक्ति और धर्म की सीमा में बाँधकर देखा जा सकता है? आज का आदमी यदि भक्तिकाल कवियों में तुलसी की अपेक्षा कबीर को अपने ज्यादा निकट पाता है तो क्यों? क्या उनकी भक्ति के कारण? क्या उनके रहस्यवाद के कारण? क्या उनकी दार्शनिक मान्यताओं के कारण? शायद नहीं।

कवि केवल परम्परा का पालक नहीं होता बल्कि वह अपने उन्नत विवेक स्वाधीन चिन्तन और आत्मानुभूत निर्णयों के द्वारा इतिहास की गति को मोड़ता हुआ नई मानसिकता का जन्मदाता भी होता है। अवश्य ही यह नयी मानसिकता परिस्थितियों की ही उपज होती है। पर यह उस कवि की अपने कमाई होती है उसकी जागरूक चेतना होती है जो उसकी रचना को एक विशेष चमक और शक्ति देती है। कविता में जो कुछ चली आती हुई रूढ़ियों का पालन होता है। गुजरे जमाने के तथ्यों का कथन होता है वह एक पुनरावृत्ति मात्र होता है। असली महत्व उन स्वानुभूतियों का होता है। जिन्हें कवि मनुष्य की प्रकृति और समकालीन स्थितियों के प्रकाश में अर्जित और अंकित करता है। किसी कवि की रचना को कोई बड़ा अर्थ या विशेष शक्ति इन्हीं से मिलती है। कबीर की कविता में यह स्वाधीन और जागरूक चिन्तन बहुत है। वह स्वानुभूत सत्यों का बयान अधिक करती है। कबीर मन और शरीर को महत्व देते हैं और उनकी कविता अनुभव की वैज्ञानिक सच्चाइयों को। यह आज के भौतिक वैज्ञानिक युग का भी मूल्य है और कबीर की प्रासंगिकता इसी में है।

कबीर की कविता प्रामाणिक अनुभवों की कविता है। इसीलिए इतनी शक्ति है। तेज है। शक्ति अनुभव में होती है। अनुकरण में नहीं। अनुभव की भाषा में ही वास्तविक प्रभाव क्षमता होती है। अनुभव और आत्मज्ञान पर कबीर ने बहुत जोर दिया है।

मैं कहता आँखिन की देखी। तू कहता कागद की लेखी।
आतम ज्ञान बिन जग झूठा। क्या मथुरा क्या काशी।।

कबीर का अनुभव ही उनका अन्तिम प्रमाण है, कोई धर्मग्रन्थ या सिद्धान्त या दर्शन नहीं। कबीर ने जो कुछ सीखा था पोथी पढ़कर नहीं बल्कि अपनी साधना के बल पर। उन्होंने पुस्तक ज्ञान को कभी महत्व नहीं दिया। अपनी अनेक साखियों में उन्होंने पुस्तक ज्ञान का विरोध किया है। कबीर ने अपनी राह पर चलने का आग्रह बहुत बार किया है। यह 'अपनी राह' अपने अनुभव का रास्ता है। कबीर ने नींद में सोये हुए लोगों को अनेक बार फटकारते हुए उन्हें जागते रहने का संदेश दिया है। यह 'नींद' और कुछ नहीं अज्ञान की नींद है और कबीर के अनुसार अज्ञान का अर्थ है अपने से बेखबर रहना। कबीर की साधना मन और शरीर की साधना है। उनकी भाव भगति भी अनुभव की ही भक्ति है। कबीर ने जो कुछ भी पाया था वह सब आत्मानुभव और सत्संग से पाया था। अपने चारों ओर की परिस्थितियों को देखने और उन पर विचार करने के बाद संभवतया कबीर ने यही उचित समझा कि अनुभव पर आधारित तर्कमूलक सत्यों का बयान किया जाय और उनके आचरण पर जोर दिया जाय। उन्होंने अपनी कविताओं में यही किया है। उन्होंने बुद्धि विरोधी आचारों का विरोध किया चाहे वे कितने ही बड़े व्यक्ति द्वारा कहे गये हों या कितने ही महान ग्रन्थ द्वारा निर्दिष्ट हों। इसी आधार पर उन्होंने काजी, मुल्ला, पंडित, वेद और कुरान का खंडन किया। विचारहीनता कबीर को किसी स्थिति में स्वीकार्य नहीं। कबीर के पूरे साहित्य में यह स्वाधीन चिंतन मिलता है। वे सभी प्रकार के बंधनों, रूढ़ियों और अतार्किक आचरणों का विरोध करते हुए विवेक, बुद्धि और तार्किक विचारों को महत्व देते हैं। सभी धर्मों, मतों का विरोध करते हुए और सभी से कुछ न कुछ ग्रहण करते हुए शायद कबीर सत्य के वास्तविक रूप का साक्षात्कार करना और कराना चाहते थे। रूढ़ियों के फेरे में वास्तविकता ही हत्या हो जाती है। और मूल अभिप्रेत

ही नष्ट हो जाता है। मालिन को संबोधित करते हुए कबीर कहते हैं:–

भूली मालणि पाती तोड़े, पाती पाती जीव।
जा मूरति कौं पाती तोड़े, सो मूरति निरजीव।।

कबीर की कविता समकालीन वास्तविकता की पहचान है। वह सच्चे अर्थों में उस युग की वाणी है क्योंकि तत्कालीन परिवेश का नंगा चित्रण उस कविता में हुआ है। कबीर जिस समय (विक्रम की 15वीं शताब्दी) की उपज थे, वह समय भारतीय इतिहास में विभिन्न धर्मों और साधनाओं का समय था। बल्कि वह एक प्रकार से विरोधी संस्कृतियों का संघर्षकाल था। उस समय भारत में विविध मत–मतान्तर प्रचलित थे– वैष्णव, शैव, शाक्त, स्मार्त, नाथपन्थ, जैन, इस्लाम, सूफी आदि। अपनी–अपनी डफली के अनुसार इन सबका अपना अलग–अलग राग था। इनकी अपनी अलग मान्यताएँ थीं, अपना अलग आचरण था। हर एक अपने को दूसरे से श्रेष्ठ समझता था। धर्म के नाम पर पाखण्ड, दम्भ और आडम्बर मात्र रह गया था। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही विभिन्न सम्प्रदायों एवं जातियों में विभक्त हो चुके थे। एक दूसरे का स्पर्श करना पाप समझता था। इस प्रकार की परिस्थितियों में पड़ा हुआ तत्कालीन समाज कराह रहा था। कबीर ने अपनी रचनाओं में उन दम्भियों और ढोंगियों को फटकारते हुए उन्हें धर्म का वास्तविक स्वरूप समझाया है। उन्होंने वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन, नाथ–सबकी आलोचना की है। वास्तव में कबीर ने जिसे 'धर्म' कहा है, वह एक ऐसी सच्चाई है जो सभी धर्मों के मूल में है, किन्तु जिस बाह्याडम्बरों और पाखंडों ने आच्छादित कर लिया है। इन आडम्बरों को झाड़–झंखाड़ को साफ करना ही कबीर का लक्ष्य था। कबीर ने हिन्दू और मुसलमान दोनों की दुर्बलताओं पर प्रहार किया। एक ओर यदि उन्होंने मुसलमानों को रोजा, नमाज, हज, कुरान, पैगम्बर और जाजिएदारी की आलोचना की तो दूसरी ओर हिन्दुओं के एकादशी, श्राद्ध, तीर्थ, व्रत, वेद मंदिर, अवतार और छुआछूत आदि का विरोध किया। उन्होंने कहा, यदि मुसलमानों के खुदा मस्जिद में रहते हैं और हिन्दुओं के ईश्वर मंदिर में तो जहाँ ये दोनों नहीं रहते हैं, वहाँ किसकी ठकुराई काम करती है। उन्होंने एक ओर मुल्ला को डाँटते हुए कहा कि क्या तेरा साहब बहरा है कि तुम मस्जिद के भीतर चिल्लाते हो तो दूसरी ओर मूर्तिपूजक को ललकारते हुए

कहा कि यदि पत्थर पूजने से हरि मिलते हों तो पहाड़ की पूजा क्यों नहीं? मुसलमानों से उन्होंने कहा कि रोजा रहना और गाय का खून करना– दोनों एक साथ नहीं चल सकता। हिन्दुओं से उन्होंने पूछा कि बालों को क्यों मूँडते हो, मन को क्यों नहीं मूँडते, जिसमें विषय–वासनाएँ हैं। उनका तर्क है कि यदि तीर्थस्थानों में स्नान करना महत्वपूर्ण है तो उन स्थानों के जल में हमेशा निवास करने वाले मेंढकों का सर्वश्रेष्ठ जीवन होना चाहिए। यदि नंगे रहने से मुक्ति मिलती है तो जंगल में पशुओं को पहले मिलनी चाहिए। यदि मूड़ मूँडने से बैकुण्ठ मिलता है तो वह सबसे पहले भेंड़ों को मिलना चाहिए। मुल्ला से तो मुर्गा अच्छा है जो सोते हुए लोगों को जगाता है। कबीर ने उन ब्राह्मणों और मुसलमानों को फटकारते हुए कहा कि यदि तुम अपने को जन्म से श्रेष्ठ मानते हो तो तुमने दूसरे रास्ते से क्यों नहीं जन्म लिया? उन्होंने ब्राह्मणों से पूछा कि क्या तुम्हारी धमनियों में दूध बहता है और शूद्रों की धमनियों में लहू? यह कबीर का सामाजिक समानता का सिद्धान्त है। वे जाति कुल, रंग, धर्म, सम्प्रदाय के आधार पर कोई श्रेष्ठता स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार ये सारे झगड़े बेकार हैं। वे सब ऊपरी बातें हैं। वास्तव में परम तत्व तो एक ही है जो सर्वत्र है और जिसके अलावा कहीं कुछ नहीं है :–

"एकै पवन एक ही पानी, एक जोति संसारा।
एक ही खाक धड़े सब भाड़े, एक ही सिरजनहारा।।
जोगी गोरख गोरख करै, हिन्दू राम नाम उच्चारै।
मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीर को स्वामी घटि–घटि रह्यो समाई।।

इस परम तत्व की सृष्टि में कोई छोटा–बड़ा नहीं है। सब बराबर हैं। जो धर्म और दर्शन की तह में जाकर इस सत्य तक नहीं पहुँचता, वह भ्रम में है, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, सगुण हो या निर्गुण, वैष्णव हो या शैव। कबीर मनुष्य को विभाजित करके देखने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने जिस सत्य का साक्षात्कार किया था, वह खंडित सत्य नहीं था और न उसे विभिन्न टुकड़ों में विभाजित करके पाया जा सकता था। कबीर का सारा रहस्यवाद, एकेश्वरवाद और उनकी सारी दार्शनिक–धार्मिक मान्यताएँ उनकी एकात्ममूलक दृष्टि से उत्पन्न हैं। उन्होंने उन्हीं विचारों को व्यक्त किया है जो मनुष्य को एक करते हैं। वे आत्मा और परमात्मा को तत्वतः

एक मानते हुए अपनी रहस्यपरक अभिव्यक्तियों में सारी सृष्टि को एक और आत्मवत् अनुभव करते हैं। वे मन की पवित्रता को महत्व देते हैं। सभी तीर्थों को घट के भीतर ही मानते हैं। मन को ही मथुरा और काया को ही काशी कहते हैं। परम तत्व की एकता के आधार पर ही कबीर विभिन्न धर्मों को हेय ठहराते हैं। वे बाह्याचारों को उस तक पहुँचने का मार्ग नहीं मानते, बल्कि उनके अनुसार प्रेम ही उस तक पहुँचने की सीढ़ी है। वे प्रेम के राज्य को ही सच्चा राज्य मानते हैं, क्योंकि उसी में सबको सन्तोष मिल सकता है। ईश्वर का प्रेम महासुख का साम्राज्य है। कबीर का प्रेम ही उन्हें सत्य के निकट ले जाता है। इस प्रेम में भेद नहीं होता। वह अभेद दृष्टि देता है। कबीर के विरह के पदों में जो तड़प और बेचैनी है, वह शुद्ध प्रेम की बेचैनी है। बाह्याचारों को हटाकर शुद्ध प्रेम और एकात्ममूलक दृष्टि को आगे लाने का यह प्रयास मात्र साधन नहीं है, न उनकी कविता का 'फोकट का माल'। यह कबीर काव्य का एक विशेष महत्वपूर्ण पक्ष है, उतना ही महत्वपूर्ण, जितनी उनकी भक्ति या और कुछ।

शास्त्र और सम्प्रदाय मनुष्य को सहज नहीं होने देते। ये भक्ति को भी आच्छादित कर लेते हैं। कबीर ने इन शास्त्रों और सम्प्रदायों को नकार दिया। उनका धर्म सहज धर्म था। उनका मार्ग सहज मार्ग था। उन्होंने विभिन्न आडम्बरों–आवरणों के बीच से सही मनुष्य की खोज की है। मनुष्य सबसे बड़ा है, कोई बंधन उसे छोटा और संकीर्ण नहीं कर सकता। कबीर ने उस मनुष्य को जो महसूस करता है, जो ईश्वर का अंश है, ढूँढ़ निकाला। उन्होंने मानव शरीर को बहुत महत्व दिया है। वे मनुष्य की सार्थकता पर जोर देते हैं, उसकी निस्सारता पर नहीं। वे 'चोला' शब्द का इस्तेमाल बार–बार करते हैं। उसे साधना में लगाने और दागहीन बनाने पर जोर देते हैं। वे शरीररूपी चादर को जतन से ओढ़कर ज्यों कि त्यों रख देने के पक्षपाती हैं। हठयोग की शब्दावली मन और शरीर की शब्दावली है। वह जीवन की साधना की शब्दावली है। इसी जीवन में उन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया था और उसे गुह्य न मानकर जन सामान्य को उसका साक्षात्कार कराना चाहते थे। योग का लक्ष्य सत्य का साक्षात्कार होता है। यह एक कठिन साधना है जिससे योगी में आत्मविश्वास, शक्ति और दृढ़ता का संकेत भी किया है :–

"हँसि हँसि कंत न पाइया, जिनि पाया तिनि रोई।
जो हाँसे ही हरि मिले, तो नहीं दुहागिनि कोइ।।

कबीर साहब उन कवियों में नहीं थे जो धन और झूठी वाहवाही के लोभ से राजदरबारों में अपनी कला का कमाल दिखाने को तथा दूर की कौड़ी लाने को कविता की सार्थकता समझते हैं। कबीर उस कवि को कोई महत्व नहीं देते जो व्यर्थ में कविता करते–करते मर जाता है। कविता के लिए कविता करना कबीर का उद्‌देश्य नहीं था। उन्होंने अपनी 'साखियों' की रचना भवसागर में पड़े हुए जीवों के लिए की थी। कविता कबीर के लिए एक तेज औज़ार है जिससे वे रूढ़ियों का जंगल साफ करना चाहते हैं। मुक्तिबोध ने एक जगह लिखा है :–

"इसलिए कि जो है उससे बेहतर चाहिए,
पूरी दुनिया साफ करने के लिए मेहतर चाहिए।"

कबीर की कविता मेहतर की यह भूमिका अदा करती है।

कबीर की कविता, कविता के स्वीकृत ढाँचे के बाहर है। कविता के स्वीकृत पैमाने से नाप–जोख करने वाले लोग कबीर के काव्य का ठीक–ठाक मूल्यांकन नहीं कर पायेंगे क्योंकि वह भिन्न सौन्दर्याभिरुचि की कविता है जो कविता के बद्धमूल कोमल संस्कारों के विपरीत है। सच्ची कविता भी शायद वही है जिसके लिए पुराने पैमाने छोटे हो जायें और कविता बड़ी हो जाय, कहीं काफी आगे निकल जाय। पिछले कुछ वर्षों से जो कविता हिन्दी में लिखी जा रही है, उसके लिए सबसे बड़ी माँग जो आलोचकों ने की है, वह यह कि कविता जिन्दगी के अधिकाधिक निकट हो। वह जटिल यथार्थ की अधिक से अधिक सच्ची अभिव्यक्ति हो। प्रखर और धारदार हो। कहना न होगा कि कविता के नये प्रतिमानों पर जब हम पुराने काव्य को कसते हैं तो कबीर की कविता हमारे सबसे निकट प्रतीत होती है और कबीर हिन्दी के प्रथम आधुनिक कवि प्रतीत होते हैं। ईमानदारी और अनुभूति की प्रामाणिकता का सम्बन्ध एक बौद्धिक सन्तुलन और विवेक तथा दूसरी ओर चीजों की वस्तुगत वास्तविकता से होता है। वस्तुस्थितियों के प्रकाश में चीजों को देखना एक सच्चे कलाकार के लिए बहुत जरूरी होता है। जैसा कि कहा जा चुका है, कबीर ने अनुभव को ही सबसे ऊँची कसौटी माना है। उनमें आत्म–सजगता, जागरूकता और

तार्किक विश्लेषण बहुत है। साहस, सच्चाई, आत्मविश्वास और दृढ़ता के लिए तो कबीर सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में रेखांकित हैं। सब कुछ को इनकार करने का उनमें अपार साहस है। वे बड़े आत्मविश्वास के साथ कहते हैं, "तूँ बाँभन मैं काशी का जुलाहा।" कहीं कोई हीनताग्रंथि उनमें नहीं। वे साहस के साथ कटु वास्तविकता का साक्षात्कार करते हैं और सच्चाई के साथ दो टूक भाषा में उसे कह देते हैं। आज की कविता में राजनीतिक भ्रष्टाचार पर जिस कदर व्यंग्य किया जाता है, उसकी आवश्यकता क़बीर के समय में शायद उतनी न थी जितनी धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में व्यंग्य करने की थी क्योंकि वह युग धर्मप्रधान युग था और उस युग की नियति धर्म और परम्पराओं द्वारा नियंत्रित हो रही थी। मुसलमान राजाओं के शासनकाल में रहते हुए कबीर ने कहा कि मुल्ला से मुर्गा बेहतर है जो लोगों को सबेरे जगा दिया करता है। पंडितों की नगरी काशी में रहते हुए कबीर ने कहा कि यदि तुम ब्राह्मण हो और श्रेष्ठ हो तो तुमने दूसरे रास्ते से जन्म क्यों नहीं लिया। यह मामूली साहस का काम नहीं था। संघर्षशील–चेतना और जुझारु प्रवृत्ति जो आज की कविता में दिखाई पड़ती है, वह कबीर की वाणियों में है। शायद उनकी इसी विद्रोही प्रवृत्ति को लक्ष्य कर वेस्टकाट ने उन्हें 15वीं सदी का मार्टिन लूथर कहा है। शायद इसीलिए आलोचकों का यह अनुमान भी ठीक लगता है कि यदि कबीर आज के समय में होते तो राजनीति के मोर्चे पर सक्रिय और संघर्षरत होते। यह देख कर आश्चर्य होता है कि बीसवीं सदी के आधुनिकतम विचार कबीर की कविता में सैकड़ों वर्ष पूर्व मिल जाते हैं। अपनी 'मुक्ति प्रसंग' कविता में राजकमल चौधरी लिखते हैं :–

"सबके लिए सबके हित में अस्पताल चला गया है।"

कबीर भी निम्नलिखित पंक्तियों में क्या ठीक यही पीड़ा नहीं व्यक्त करते?

"सुखिया सब संसार है, खावै औ सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै औ रोवै।।"

कबीर की जीवनी प्रायः अज्ञात है। अतः यह तो ठीक–ठाक नहीं बताया जा सकता कि कबीर ने अपने क्रान्तिकारी विचारों को अपने व्यक्तिगत जीवन में कहाँ तक उतारा, पर उनके जीवन से सम्बन्धित एक

घटना को प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि कबीर की मृत्यु मगहर में हुई। कबीर ने काशी को छोड़ कर मगहर को मरने की जगह किस विवशता में चुनी, इसका भी कोई निश्चित पता नहीं चलता, पर यदि यह चुनाव उन्होंने स्वेच्छया किया तो निश्चय ही यह एक अभूतपूर्व निर्णय था। संभव है कबीर ने जिस कथनी और करनी की एकता पर जीवन भर जोर दिया, उसी को अपने व्यक्तिगत जीवन में प्रमाणित करने के लिए ही उन्होंने मगहर को अपने मरने की जगह चुनी हो। इस आशय की कुछ पंक्तियाँ भी मिलती हैं :–

काशी मगहर सम बीचारी। ओछी भगति कैसे उतरसि पारी।।

X X X

जो कबीर काशी मरै, रामै कौन निहोरा।।

चाहे जो हो, इतना तो निश्चित है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में कबीर ने जीवन और साहित्य के हर क्षेत्र में विद्रोह का जो स्वर बुलन्द किया, वह युग की महान घटना है। समन्वय और समझौता उनका रास्ता नहीं था। वे उस सुविधाधर्म के विरोधी थे, जिसमें जकड़ कर आज के मनुष्य ने अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व नष्ट कर दिया है। कबीर ने लीक पकड़ कर चलने की कोशिश कभी नहीं की। उन्हें किसी का डर नहीं रह गया था, क्योंकि उन्होंने अपने ही हाथों अपना घर फूँक दिया था और हाथ में लुआठा लेकर चौराहे पर खड़े थे। उन्होंने साहित्यिक रूढ़ियों के विरुद्ध भी विद्रोह किया और उनकी उलटवाँसियों को इस सन्दर्भ में पढ़ा जा सकता है। कबीर की भाषा विद्रोह की प्रखर भाषा है। वह व्यंग्य की तीखी बेलौस भाषा है। वह आक्रमण करती है, प्रहार करती है, चुनौती देती है, उत्तेजित करती है और अन्त में निरुत्तर कर देती है। उसमें न संकोच है, न भ्रम, न रिझाने का जायका। अरूप को रूप देने में ही इस भाषा की सार्थकता नहीं है, वस्तु–सत्यों को तीव्रतम अभिव्यक्ति देने में भी इस भाषा की सफलता देखी जा सकती है। कुसंस्कारों और पाखण्डों के जाल को तोड़ने के लिए ऐसी ही भाषा जरूरी थी। कोमल भाषा से बद्धमूल संस्कारों को रूढ़ियों का उन्मूलन संभव नहीं है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार कबीर ने जिन तत्वों को अपनी रचना से ध्वनित करना चाहा है, उनके लिए इससे ज्यादा साफ और जोरदार भाषा की संभावना नहीं है। इस भाषा को 'सधुक्कड़ी'

या 'पंचमेल खिचड़ी' कह कर नहीं समझा जा सकता। यह सामान्य जन की जीवन्त भाषा है, वह भाषा है जिसमें कबीर का समकालीन जीवन साँस ले रहा था। कबीर ने अपनी रचनाओं में तत्कालीन जीवन का जो खाका खींचा है, वह बड़ा ही यथार्थ और सजीव है। कबीर उस लोक–परम्परा के कवि थे, जिसने उन्हें उपजाया था। वे उस लोक आवश्यकता के कवि थे, जिसने उन्हें कविता करने को मजबूर किया था। उनके काव्य को जीवनधारा से पृथक करके नहीं समझा जा सकता। उनकी कविता में आटा, दाल, नमक, घी, गद्दा, चक्की, तराजू, तकिया, चारपाई सभी कुछ आता है। उसमें किसान, कुम्हार, जुलाहा, महाजन, बनजारा, सिपाही, कोतवाल, दरबारी, काजी, मुल्ला, पण्डित, पुजारी सब आते हैं। उनकी जीवन–पद्धतियाँ और मनोवृत्तियाँ भी आती हैं। कबीर साहब की शब्दावली जनसमूह की शब्दावली है। कबीर को समाज के निम्नवर्गों में ही शायद अधिक रहने का मौका मिला था और उस जीवन की शब्दावली लेकर उन्होंने जो बातें कही हैं, वे आज भी भारत के उस वर्ग की स्मृतियों में सुरक्षित हैं। 'मेरा हीरा हेराय गयो कचरा में', 'चली है कुलबोरनी गंगा नहाय', 'नमइया की दुलहिन लूटे बाजार', 'मन ना रँगाये जोगी कपड़ा', जैसे अनेक पद आज भी उतने ही ताजे लगते हैं। देशज शब्दों को परखने का यह कौशल कबीर में है। भाषा की यह विशिष्ट परख कर सकने के कारण ही उन्होंने भाषा को 'बहता नीर' कहा है और इसी भाषा में खुद को व्यक्त करके कबीर ने काफी दूर तक अपनी प्रासंगिकता प्रमाणित की है, किन्तु कबीर की प्रासंगिकता की छानबीन करते हुए यह तो स्वीकार करना होगा कि कबीर एक आस्थावान व्यक्ति थे। ईश्वर में उनका विश्वास था। उनके रहस्यमय प्रियतम के साथ उनका रागात्मक संबंध था। वह रहस्यानुभूति आज के वैज्ञानिक युग के भौतिकवादी कवि–मानस में नहीं होती। वस्तुतः कबीर की मान्यताओं के केन्द्र में एक शाश्वत सत्य है जो आज के कवि–मानस का केन्द्र नहीं है। उस समाज के कवि से ठीक आज के कवि जैसी अपेक्षाएँ नहीं की जा सकतीं और जो अपेक्षाएँ की जा सकती हैं, उन्हें कबीर की कविता पूरी करती है।

□□□

कबीर की उलटवाँसियाँ

कबीर की अटपटी बानियों या अभिव्यक्तियों के लिए आलोचकों ने 'उलटवाँसी' शब्द का प्रयोग किया है। 'उलटवाँसी' शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। हाँ, इस प्रकार की रचनाओं को अलग किया जा सकता है। गोरखनाथ ने इसी प्रकार की रचनाओं के लिए संभवतः 'उलटी चरचा' का प्रयोग किया है :–

नगरी कौ पाणी कूई आवै
उलटी चरचा गोरख गावै

– गोरखबानी

कबीर ने संभवतः इन्हीं के लिए 'उलटिवेद' अर्थात् 'उल्टा वेद' शब्द का प्रयोग किया है :–

है कोई जगत गुर ग्यानी, उलटि बेद बूझै

वे ऐसे पदों में निहित रहस्य को बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं, अतः इनके बारे में प्रायः इस प्रकार की टिप्पणियाँ करते हैं :–

1. **कहै कबीर या पद को बूझै, ताँकू तीन्यूँ त्रिभुवन सूझै।।**[1]
2. **कहै कबीर ताहि गुर करौं, जो या पदहि विचारै।।**[2]
3. **अवधू सो जोगी गुर मेरा**
   जो या पद करै नबेरा।।[3]

आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल 'उलटवाँसी' शब्द को तो प्रयोग नहीं करते, पर कबीर की इस प्रकार की अभिव्यक्तियों के लिए लिखते हैं, इनकी उक्तियों में विरोध असंभव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था..... अनेक प्रकार के रूपकों और अन्योक्तियों द्वारा ही इन्होंने ज्ञान की बातें कही हैं जो नई न होने पर भी वाग्वैचित्र्य के कारण अपढ़ लोगों को चकित किया करती थीं।[4]

---

1. कबीर ग्रंथावली (श्यामसुन्दर दास), ग्यारहवाँ संस्करण, पद–11, पृष्ठ–72
2. वही, पद–161, पृष्ठ–106
3. वही, पद–165, पृष्ठ–107
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, सत्रहवाँ संस्करण, पृष्ठ–55–56

डॉ0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने 'उल्टवासी' शब्द का प्रयोग किया है। वे लिखते हैं, "आध्यात्मिक अनुभव की अनिर्वचनीयता के कारण साधक को कभी–कभी परस्पर विरोधी उक्तियों द्वारा व्यक्त करने का ढंग अपनाना पड़ता है..... और इसके आधार पर ऐसे गूढ़ प्रतीकों की सृष्टि हो जाती है जिन्हें 'उल्टवासी' या 'विपर्यय' कहते हैं,...... किन्तु कभी–कभी इन उल्टवासियों का प्रयोग अर्थ को जानबूझकर छिपाने के लिए भी हुआ करता है, जिससे आध्यात्मिक मार्ग के रहस्यों का पता अयोग्य व्यक्तियों को न लगने पावे।[5]

संत साहित्य के मर्मज्ञ पं0 परशुराम चतुर्वेदी उलटवाँसियों के बारे में लिखते हैं, "ये उलटवाँसियाँ बहुधा अटपटी बानियों के रूप में रची गई रहती हैं, जिस कारण इनके गूढ़ आशय को शीघ्र समझ न पाने वाला इन्हें सुनकर आश्चर्य में अवाक रह जाता है और जब कभी इन पर ध्यानपूर्वक विचार कर लेने पर, वह इन शब्दों के पीछे निहित रहस्य को जान पाता है तो उसे अपार आनन्द भी मिलता है।[6]

संत साहित्य के विद्वानों के उपर्युक्त कथनों में उलटवाँसियों की प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट की गयी हैं। इनके आधार पर कहा जा सकता है कि उलटवाँसियों में विरोध और असंभव का चमत्कार होता है। इनमें आध्यात्मिक अनुभवों की अनिर्वचनीयता होती है। इनके निहित रहस्य को जान लेने पर आनन्द की अनुभूति होती है। वस्तुतः जिसे हम अभिव्यक्ति का संकट कहते हैं, वह हर रचनाकार के सामने सदा से उपस्थित रहा है। आज का रचनाकार भी इसे महसूस करता है। अनुभव को सही और समर्थ भाषा देना ही रचनाकार की 'अभिव्यक्ति का संकट' है। वह बार–बार शब्दों से जूझता है, उन्हें काटता–पीटता, तराशता है और अंत में भी शायद उसे लगता है कि वह जो कहना चाहता है, उसे ठीक–ठीक नहीं कह पा रहा है। यह अभिव्यक्ति का संकट कबीर आदि संतों के सामने एक दूसरे रूप में उपस्थित था। उनके सामने समस्या सामान्य अनुभवों को नहीं, आध्यात्मिक अनुभूतियों को व्यक्त करने की थी। जिस ब्रह्मत्व की व्याख्या के प्रसंग में बुद्ध और प्लेटो जैसे विचारक मौन रह गये थे, उसकी

---

5. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय : पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, प्रथम संस्करण, पृ–370–371
6. कबीर साहित्य की परख : परशुराम चतुर्वेदी : प्रथम संस्करण, पृष्ठ–150

अभिव्यक्ति की कठिनाई को समझा जा सकता है। हमारे दर्शनों ने इसीलिए उसे बार–बार 'अनिर्वचनीय', 'अज्ञेय' आदि कहा है। ऐसी अनिर्वचनीय आध्यात्मिक अनुभूति की भाषा देने में कठिनाई होगी ही। उलटवाँसियों के विरोधमूलक कथनों और असंभव के चमत्कारों में इसी कठिनाई को सुलझाने की कोशिश है। उलटवाँसियों की जटिलता का दूसरा कारण आध्यात्मिक अनुभूतियों की गोपनीयता की रक्षा भी हो सकती है। हमारे यहाँ उपनिषदों आदि में अध्यात्म विद्या को बहुत पवित्र और गूढ़ माना गया है। उसे सत्पात्र को ही देने का विधान किया गया है। अनधि ाकारी के समक्ष 'तत्व' का रहस्य खोलने की मनाही की गयी है। उलटवाँसियों को जटिल बनाकर संभवतः इसी गोपनीयता की रक्षा की गयी है। इस पर सहजयानी सिद्धों और नाथयोगियों का प्रभाव भी लक्षित किया जा सकता है जो अपनी साधना–प्रक्रिया को गोपन रखने में विश्वास करते थे। परवर्ती संतों की उलटवाँसियों में कहीं–कहीं पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इनकी उलटवाँसियों में कूट काव्य की क्लिष्ट–कल्पना मिलती है। ऐसा लगता है, जैसे ये लोग पंडित, पांडे और वधू को अपनी गूढ़ोक्तियों द्वारा पराभूत करके अपनी श्रेष्ठता दिखाना चाहते हैं। इसीलिए इनकी उलटवाँसियों में कोई मौलिकता या नवीनता नहीं, वरन् परम्परा निर्वाह मात्र दिखाई पड़ता है।

उलटवाँसी शैली की परम्परा बहुत प्राचीन है और इसके प्रयोग वैदिक साहित्य तक में ढूँढ़े जा सकते हैं। ऋग्वेद की कुछ गूढ़ार्थक ऋचाएँ ऐसी हैं जिनमें रहस्यमय कथन हैं और जो सीधे समझ में नहीं आते। यहाँ इस प्रकार के केवल दो उदाहरण प्रस्तुत हैं :–

(1) चत्वारि श्रृंगात्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्याआविवेश।।[7]

अर्थात् 'इस बैल के चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं और यह तीन प्रकार से बँधा हुआ शब्द करता है।' इस मंत्र में जिस वृषभ का वर्णन किया गया है, वह विचित्र है। सायण ने इसके कई अर्थों का विवेचन किया है। 'वृषभ' शब्द से 'यज्ञ', 'सूर्य' और 'शब्द ब्रह्म' आदि का अर्थ लिया गया है।

---

7. ऋग्वेद संहिता : 4/58/3

(2) इह ब्रवीतु य ईयङ्ग वामस्य निहितं पदं वेः।
शीर्ष्णः क्षीरं दुहंते गावो अस्य वव्रिं बसाना बसाना उदकं पदापुः।।[8]

अर्थात् 'जो भी इस सुन्दर एवं गतिशील पक्षी के भीतर निहित रूप को जानता हो, बतलावे। इसकी इंद्रियाँ अपने शिरोभाग द्वारा क्षीर प्रदान करती हैं और अपने चरणों द्वारा जल पिया करती हैं।'

ऋग्वेद में इस शैली के जो कथन हैं, उनमें से कई ज्यों के त्यों अथर्ववेद में भी मिलते हैं। वैदिक ऋषियों ने अपनी गहन अनुभूतियों को इसी प्रकार की गूढ़ोक्तियों में व्यक्त किया है। उपनिषदों में इस शैली का पूरा विकास दिखाई पड़ता है। उनमें ब्रह्म और आत्मा के बारे में सूक्ष्म विवेचन हुआ है। क्योंकि ये विषय अत्यंत गहन हैं, अतः इनकी अभिव्यक्ति में भी विरोध का चमत्कार दिखाई पड़ता है। यहाँ इस प्रकार के कथनों के एक–दो उदाहरण प्रस्तुत हैं :–

(1) अपाणि पादो जवनो गृहीता, पश्पत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता, तमाहुंग्रय पुरुषं महान्तम्।।[9]

अर्थात् 'वह बिना हाथ–पैर का होते हुए भी वेगवान और ग्रहण करने वाला है, नेत्रहीन होकर भी देखता है, कर्णरहित होकर भी सुनता है। वह सम्पूर्ण वेद को जानता है पर उसको जानने वाला कोई नहीं है, वह आदि पुरुष और महान कहा गया है।'

(2) अणोरणीयान्महतो महीयाने आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।[10]

अर्थात् 'वह अणु से भी अणु और महान से भी महान है और वह आत्मा के अन्तःकरण में स्थित है।'

(3) आसीनो दूरं ब्रजति शयानो याति सर्वतः।[11]

अर्थात् 'वह स्थित हुआ भी दूर चला जाता है, शयन करता हुआ भी सर्वत्र गमन करता है।'

□□□

---

8. ऋग्वेद संहिता : 1/164/7
9. श्वेताश्वरोपनिषद् 3/19
10. वही, 3/20
11. कठोपनिषद्, 1/2/21

कुछ पारिभाषिक शब्द

अजपाजाप – अजपाजाप नामस्मरण की एक पद्धति है। इसमें जप के बाह्य साधनों, जैसे– माला फेरना, उँगलियों पर गिनते हुए उच्चारण करना आदि को त्यागकर श्वास–प्रश्वास की अंतःक्रिया के द्वारा जप किया जाता है। इसी को सिद्धों ने 'वज्रजाप' और नाथयोगियों ने अजपाजाप नाम दिया है। सिद्धों की साधना में 'चंडाग्नि' प्रज्ज्वलित करके 'एवम्' बीजाक्षर का जाप किया जाता था। नाथपंथियों में यह 'एवम' के स्थान पर 'सोहम' के रूप में प्रचलित हुआ। उनके अनुसार इस प्रकार के जाप के द्वारा इंद्रियों का निग्रह संभव है।[1] सिद्धों के अनुसार इस जाप के द्वारा 'णिरक्खर' (निरक्षर) या शून्यावस्था की भी सिद्धि होती है। कबीर तथा अन्य संत भी इस जप की मूल भावना को स्वीकार करते हैं। इसे 'सहज जप' भी कहा गया है यद्यपि इसकी साधना सरल नहीं है।

वस्तुतः अजपाजाप का लक्ष्य चितवृत्ति का निरोध करते हुए तन्मय भाव से सहज जप है। यह एक प्रकार से साधक और साध्य की एकता का मार्ग है। जब साधक का ध्यान शब्दों को दुहराने या अन्य वाह्य क्रियाओं से हटकर इतना सहज हो जाता है कि श्वास क्रिया के साथ वह स्वतः एकाकार हो जाता है तो अजपाजाप की स्थिति होती है। इसमें अपने इष्ट या साध्य के सानिध्य की अनुभूति निरन्तर होती रहती है। कबीर कहते हैः–

सुरति समांनी निरति मैं, अजपा माहै जाप।
लेख समांना अलेख मैं, यौं आपा माहैं आप।।

अनहद नाद – योगियों और संतों ने इसे 'अनहद' या अनाहत नाद' कहा है। यह सांसारिक नाद से भिन्न होता है। जैसा कि शब्द से ही स्पष्ट है यह असीम है तथा बिना किसी माध्यम के ध्वनित होता है। यह योगी के शरीर के भीतर स्वतः उत्पन्न होने वाली ध्वनि है। यह उस विचित्र ध्वनि को कहते हैं जिसे योगी अपनी चितवृत्ति को भीतर की ओर

1. अजपा जपै सुंनि मन धरै, पाचौ इंद्री निग्रह करै।
– गोरखबानी, सब्दी 4/18

प्रवाहित करके अपने शरीर के भीतर ही सुनता है। यह ध्वनि उन्हीं साधकों को सुनाई पड़ती है, जिनकी कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर षटचक्रों को भेद कर शून्य में समा जाती है। इसकी एक अपनी प्रक्रिया है। कुंडलिनी के जाग्रत होने पर उसकी प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवेश करती है। फिर मूलाधार आदि षटचक्रों का बेधन करती हुई आज्ञाचक्र में पहुँचती है। ऐसी स्थिति में योगी को समुद्र या मेघगर्जन के समान एक विचित्र ध्वनि सुनाई पड़ती है। बाद में यह ध्वनि क्रमशः मधुर होती जाती है तथा भेरी, शंख, घंटा, किकिणी वंशी, वीणा और भ्रमरगुंजन जैसी मधुर होती जाती है।[2] अनहद नाद की चर्चा सभी संत कवियों ने की है। कबीर इसके विषय में लिखते हैं –

1. उल्टे पवन चक्रषट बेधा, मेरुदंड सरपूरा।
गगन गरजि मन सुनि समाना, बाजे अनहद तूरा।।

2. पंषि उड़ानी गगन कूँ, उड़ी चढ़ी असमान।
जिहिं सर मण्डल भेदिया, सो सर लागा कान।।

3. ससिहर सूर मिलावा, तब अनहद बेन बजावा।
जब अनहद बाजा बाजै, तब सांई संगि बिराजै।।

अमृत– योगियों के अनुसार सहस्रार चक्र के मध्य स्थित एवं चन्द्राकार बिन्दु से एक प्रकार का रस स्राव होता है जिसे अमृत कहते हैं। इसे 'महारस' और 'अमर वारुणी' आदि भी कहा गया है। जिस व्यक्ति की कुण्डलिनी जाग्रत नहीं है, उसका यह अमृतरस अधोमुखी होकर नष्ट होता रहता है। योगियों के अनुसार खेचरी मुद्रा के अभ्यास द्वारा इस अमृत की उपलब्धि की जा सकती है। संत कबीर ने भी इस अमृतस्राव का वर्णन किया है। उन्होंने इसे 'हरिरस', 'रामरस' या 'प्रेमरस' कहा है।

---

2. श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
ततोभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्म सूक्ष्मकः।।
आदौ जलधि जीभूत भेरीझर्झर संभवाः।
मध्ये मर्दल शंखोत्था घंटाकाहलजासतथा।।
अंते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमर निःस्वना।
इति नानाविधा नादा श्रूयतें देहमध्यगाः।।

— हठयोग प्रदीपिका 4/84–86

उनके इस रस और नाथपंथियों के अमृत में अन्तर है। तांत्रिक अनुष्ठानों में वारुणी का विशेष महत्व है। योगियों के अनुसार इस अमृतस्त्राव से अमरता प्राप्त होती है। कबीर के 'प्रेमरस' में भक्ति और प्रेम की प्रधानता है। उनके अनुसार इस 'रस' का पान करना आसान नहीं है। इसके लिए अपने सिर की बाजी लगानी पडती है। एक बार इस रस का स्वाद पा लेने पर इसकी खुमारी कभी नहीं जाती और अन्य रस सदा के लिए भूल जाते हैं :–

1. **राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।**
   कबीर पीवण दुर्लभ है, माँगे सीस कलाल।।
2. **हरि रस पीया जांणिये, जे कबहूं, न जाइ खुमार।**
   मैमंता घूमत रहै, नाहीं तन की सार।।

उन्मनि– यह समाधि से मिलती–जुलती अवस्था है। यह वह अवस्था है जब मन सांसारिक विषयों से विमुख होकर ईश्वर की ओर उन्मुख हो जाता है। मन बड़ा चंचल होता है। उन्मनी अवस्था में उसकी चंचलता समाप्त हो जाती है। और वह स्थिर हो जाता है। इसे 'मनोन्मनी' अवस्था भी कहा जाता है–

एकं सृष्टिमयं बीजं, एका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालवः एकावस्था मनोन्मनी।।

– हठयोग प्रदीपिका

मारुते माध्य संचारे, मनःस्थैर्य प्रजायते।
यो मनः सुस्थिरीभावः, सेवावस्था मनोन्मनी।।

– हठयोग प्रदीपिका

नाथपंथियों में 'मनोन्मनी' शब्द का व्यवहार हुआ है और इसे विशेष महत्व दिया गया है। कबीर ने भी 'उन्मनी' शब्द का प्रयोग प्रायः इसी अर्थ में किया है। वे इसे एक विशिष्ट प्रकार का ध्यान मानते हैं, जिसमें मन वाह्य प्रपंचों से हटकर भीतर स्थिर हो जाता है और ईश्वर की प्राप्ति में सहायक होता है:–

1. **उपजत उपजत बहुत उपाई**
   मन स्थिर भयौ तबै थिति पाई।

बाहरि खोजत जनम गंवाया
उनमनी ध्यान घट भीतरि पाया।।

—कबीर

2. **मन लागा उन्मन्न सौं, गगन पहूँचा जाइ।**
देखा चंद विहूंणा चांदिणा, तहां अलख निरंजन राइ।।

— कबीर

खसम— 'खसम' शब्द का प्रयोग संभवतः सिद्धों की रचनाओं में सबसे पहले हुआ है। वहाँ इसका अर्थ 'आकाशवत्' या 'शून्यवत' है। संस्कृत में 'ख' का अर्थ होता है 'आकाश' और सम का अर्थ है 'सामान'। इस प्रकार 'खसम' का अर्थ हुआ 'आकाश समान' या शून्यवत्। सिद्ध लोग शून्यवादी थे, शायद इसीलिए उन्होंने अपने शून्य को 'आकाशवत' अर्थात खसम कहा। दोहाकोश में खसम शब्द का कई बार प्रयोग हुआ हैः—

चित्त खसम जहि समसुह पइट्ठइ।
इन्दीअ—बिसअ ताहि मत्त ण दीसइ।।

— तिल्लोपाद

(अर्थात जब साधक का चित समसुख में लीन हो जाता है तो ऐन्द्रिक विषयों का अनुभव नहीं होता।)

कबीर की बानियों में खसम' शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। उनमें यह शब्द प्रायः 'पति' के अर्थ में उपयुक्त हुआ है। अरबी में खसम शब्द पति का खाविद के अर्थ में प्रयुक्त होता है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'कबीरदास को यह शब्द दो मूलों से प्राप्त हुआ। हठयोगियों के माध्यम से यह आत्मा के शून्यचक्र समभाव की अवस्था को प्राप्त होने के अर्थ में आया और मुसलमानी माध्यम से पति के अर्थ में।[3] किन्तु द्विवेदी जी के अनुसार कबीर ने 'खसम' का अर्थ निकृष्ट पति लिया है। उन्हीं के शब्दों में 'कबीरदास खसम शब्द की पुरानी परम्परा से जरूर वाकिफ थे और उन्होंने जानबूझकर खसमावस्था की तुलना निकृष्ट पति से की है।'[4]

3. कबीर : हजारी प्रसाद द्विवेदी : पृ. 90
4. वही : पृ. 90

द्विवेदी जी का यह मत बहुत समीचीन प्रतीत नही होता। वस्तुतः कबीर की बानियों में 'खसम' शब्द 'पति' स्वामी और परमात्मा इन तीनों ही अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है–

1. खसम मरे तौ नारि न रोवै, उस रखवारा ओरौ होवै।

2. खसम लिये कर डोरी डोलै।

3. जो जन लेहि खसम कर नाऊँ, तिनके सद बलिहारै जाऊँ।

नाद –बिन्दु– नाद–बिन्दु की कल्पना संभवतः तांत्रिकों की है। तंत्र ग्रंथों में इन शब्दों का कई बार प्रयोग हुआ है। तन्त्र शास्त्र के ग्रंथों के अनुसार शिव और शक्ति के संयोग से ही नाद और बिन्दु की उत्पत्ति होती है। सिद्धों में भी नाद और बिन्दु शब्दों का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। किन्तु उनके यहाँ इस साधना को बहुत महत्व नहीं मिला है। वज्रयानी बौद्ध सिद्धों ने इस साधना की अपेक्षा की है, किन्तु नाथपंथियों ने इस साधना को बहुत महत्व दिया। गोरखनाथ के अनुसार यह साधना किसी बिरले के ही वश की है, पर जो इसे साध लेता है वह सिद्ध हो जाता है–

नाद नाद सब कोई कहै। नादहि ले को बिरला रहै।

नाद बिंद है फीकी सिला। जिहि साध्या ते सिधै मिला।।

–गोरखबानी, पृ. 61

योगियों ने 'नाद' और बिन्दु शब्दों का प्रयोग कई अर्थों में किया है। नाद का प्रयोग 'अनहद नाद' और 'परमात्मा' के अर्थ में भी हुआ है। बिन्दु शब्द वीर्य के पर्यायवाची रूप में ब्रहाचर्य साधना के लिए भी आया है। इसका प्रयोग जीवात्मा के अर्थ में भी हुआ है। गोरखनाथ ने 'महाबिन्दु' को ब्रह्म के अर्थ में भी ग्रहण किया है:–

व्यंद ब्यंद सब कोइ कहै। महा ब्यंद कोई बिरला लहै।

– गोरखबानी

कबीर ने भी नाद और बिन्दु शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु ऐसा लगता है कि वे इनका प्रयोग परम्परा से प्रभावित होकर किया करते हैं। नाद बिन्दु की साधना को उनके यहाँ बहुत महत्व नहीं मिला है। वैसे नाद और बिन्दु को वे प्रायः गोरखनाथ के ही अर्थों में ग्रहण करते हैं। उनकी

धारणा है कि इन दोनों के मिलन से ही गोविन्द की अनुभूति होती है:—

नादहि ब्यंद कि ब्यंदहि नाद, नादहि ब्यंद मिले गोब्यन्द।

कबीर के अनुसार नाद में बिन्दु के लय होने पर अनहद की ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है :—

अवधू नादै ब्यंद गगन गाजै, सबद अनाहद बोलै।

वस्तुतः कबीर की साधना प्रेम और भक्ति की साधना थी। अतः वे नाद और बिन्दु की अपेक्षा रामनाम को ही विशेष महत्व देते हैं :—

नाद ब्यंद की नावरी, राम नाम कनिहार।

अर्थात नाद बिन्दु की नाव को पार ले जाने के लिए राम नाम रूपी कर्णधार आवश्यक है।

निरंजन— निरंजन शब्द का प्रयोग भारतीय दर्शन तथा योग के साहित्य में बहुत हुआ है। कबीर ने भी इस शब्द का प्रयोग अनेक बार अनेक स्थलों पर किया है। उन्होंने इस शब्द से प्रायः नाथयोगियों का सा ही अर्थ लिया है। निरंजन का अर्थ है अंजन रहित। अंजन का तात्पर्य 'माया' अथवा सांसारिक विषयादि से है। नाथपंथ में निरंजन को बहुत महत्व दिया गया है। नादानुसन्धान के द्वारा योगी के सभी पाप क्षीण हो जाते हैं तथा उसके चित मारुत निरंजन में लीन हो जाते हैं।[5] जब तक निरंजन का साक्षात्कार नहीं होता तब तक संसार के प्राणियों में विविधता दिखाई पड़ती है।[6] अतः निरंजन के साक्षात्कार से ही अभेद दृष्टि प्राप्त होती है। कहना न होगा कि यहाँ निरंजन शब्द का प्रयोग शुद्ध और मुक्त ब्रह्म के लिए हुआ है। सिद्धों ने इसका प्रयोग प्रायः शूनय के अर्थ में किया है। कहीं—कहीं इसका प्रयोग द्वैताद्वैत विलक्षण के अर्थ में भी किया गया है।

कबीर ने निरंजन शब्द का प्रयोग परमतत्व परब्रह्म आदि के लिए किया है जो निर्गुण और निराकार है। उनके अनुसार इस दृश्यमान जगत

5. सदानादानुसन्धानात्क्षीयते पाय संचया।
निरंजने विलीयेते निश्चित चित्त मारुतौ।। — हठयोग प्रदीपिका

6. यावन्नोत्पद्यते ज्ञान साक्षात्कारै निरंजने।
तावत्सर्वाणि भूतानि दृश्यते विविधानि च।। — शिव संहिता 2—48

में जो कुछ दिखता है वह अंजन है। जो इन सबसे न्यारा है वही निरंजन है। उन्होंने राम और निरंजन को एक मानते हुए उसी को सारतत्व माना है।

राम निंरजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे।

माया के आवरण के कारण ही लोग इस निरंजन का साक्षात्कार नहीं कर पातेः—

अलख निरंजन लखे न कोई, जेहि बंधे बंधा सब लोई।

कबीर इस माया से मुक्त होने की सलाह देते हैं :'—

अंजन माहि निरंजन रहिये, बहुरि न भवजल पाया।

कबीर निरंजन को निर्गुण तथा निराकार कहते हैं :—

गोब्यंदे तू निंरजन तू निरंजन तू निरंजन राया।
तेरे रूप नाहीं रेखं नाहीं मुद्रा नाहीं माया।।

निरंजन शब्द का प्रयोग एकाध स्थलों पर वे 'अलह' के लिए भी करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर के लिए निरंजन परमतत्व का ही पर्याय है। इसे स्वीकार करते हुए हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं, "कबीरदास की उक्तियों में से ऐसी ढूँढ़ी जा सकती हैं, जिनमें उन्होंने निरंजन को परमाराध्य समझा है। पर आगे चलकर कबीरपंथ में निरंजन की बड़ी दुर्गति है। निरंजन वहाँ पक्का शैतान बना दिया गया है।"[7]

शून्यः— भारतीय दर्शन और साहित्य में शून्य शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर पाया जा सकता है। विष्णु सहस्रनाम में विष्णु के सहस्र नामों में एक नाम शून्य भी है। परमसत्ता या ब्रह्म के लिए इस शब्द का प्रयोग संभवतः इसलिए किया गया है कि उसे अनिवर्चनीय और समस्त गुणों या विशेषणों से रहित माना जाता है। बौद्ध दर्शन में शून्य शब्द को बहुत महत्व मिला है। नागार्जुन का शून्यावाद प्रसिद्ध है। उन्होंने शून्य की व्याख्या करते हुए कहा कि इसे शून्य भी नहीं कह सकते अशून्य भी नहीं कह सकते और दोनों (शून्याशून्य) भी नहीं कह सकते। यह भी नहीं कह सकते कि यह शून्य भी नहीं है और अशून्य भी नहीं है।[8]

7. कबीर : हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ. 97
8. वही, पृ. 84

शून्यमिति न वक्तवयं अशून्यमिति वा भवेत।
उभंय नोभयं नैव प्रज्ञप्त्यर्थ तु कथ्यते।।

शून्य शब्द की यह परिभाषा उसकी अनिवर्चनीयता का बोध कराती है। इन अनिवर्चनीय तत्व को बौद्ध सिद्धों ने परमतत्व और महासुख भी माना है आगे चलकर इस शब्द का अर्थ और भी विकसित हुआ है। यह शब्द केवल अनिर्वचनीय तत्व का वाचक न रहकर कहीं 'ब्रह्मरन्ध्र' का कहीं 'सुषुम्ना नाड़ी' का और कहीं 'अनाहत चक्र' का पर्याय हो गया। हठयोग प्रदीपिका में इस शब्द के उपर्युक्त अर्थ देखे जा सकते हैं। नाथपंथी लोग सबसे ऊपरी चक्र सहस्रारचक्र को शून्यचक्र कहते हैं। नाथपंथियों ने शरीर के भीतर गगन की कल्पना की है जहाँ ज्योतिर्मय तत्व चमकता है तथा जहाँ अनहद की ध्वनि सुनाई पड़ती है।

कबीर ने शून्य शब्द का जो प्रयोग किया है उस पर नाथपंथियों का प्रभाव है। उनका शून्य शब्द कहीं ब्रह्मरन्ध का और कहीं सुषुम्ना का वाचक है। उन्होंने गगन और शून्य दोनों का प्रायः एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। जब वे कहते हैं, 'गगन मंडल घर कीजै' या 'सुनि मंडल में घर किया' तो दोनों बातें लगभग एक ही हैं। योगियों का गगन और सहस्रार चक्र भी एक ही हैं कबीर आदि संत कवियों ने गगन और आकाश को भी प्रायः एक ही माना है। सहस्रार चक्र को ही शून्यचक्र, शून्यमंडल, गगनमंडल या आकाशमंडल कहा गया है। यहीं पहुँचकर महारस की प्राप्ति होती है और यहीं अनहद नाद सुनाई पड़ता है:–

चढ़ि अकास आसन नहिं छांड़ै, पीउ महारस मीठा।

—कबीर

पंषि उड़ानी गगन कूं, उड़ी, चढ़ी असमान।
जिहिं सर मंडल भेदिया, सो सर लागा कान।।

— कबीर

संत कवियों ने इस गगन मण्डल में ही कैलाश और मानसरोवर की कल्पना भी की है। कबीर कहते हैं :–

मानसरोवर सुभग जल, हंसा केलि कराहि।
मुकताहल मुकता चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहिं।।

कबीर आदि संत कवियों ने शून्य के साथ गढ़ और महल आदि शब्दों के प्रयोग भी किये हैं :—

सायर नाहीं, सीप बिन, स्वाति बूँद भी नाहिं।

कबीर मोती नीपजै, सुन्नि सिषर गढ़ माहिं।।

—कबीर

सुन्न महल में महल हमारा, निरगुन सेज बिछाई।

— मलूकदास

कबीर आदि संतों ने शून्य और सहज शब्द का प्रयोग भी प्रायः एक ही साथ किया है। सिद्धों और नाथों ने भी शून्य तथा सहज का एक साथ प्रयोग किया है। नाथपंथी योगी शून्यावस्था की द्वन्द्वातीत अवस्था को ही सहजावस्था मानते हैं। कबीर सहज शून्य का प्रयोग कई स्थलों पर एक साथ करते हैं :—

1. **सहज सुनि में जिन रस चाष्या, सतगुरु थैं सुधि पाई।**

   दास कबीर इहिं रसं माता, कबहूँ उछकि न जाई।।

2. **सहज सुनि को नेहरौ गगन मंडल सिरिमौर।**

सहज— भारतीय साहित्य में सहज शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल में भी हुआ है। इसीलिए इस शब्द के प्राचीन साहचर्य के बारे में विद्वानों में मतभेद है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सिद्धों के समय से यह शब्द विशेष प्रचलन में रहा है। सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य तथा हिन्दी के संत कवियों के साहित्यों में इस शब्द का प्रयोग अपना महत्वपूर्ण अर्थ रखता है। सिद्ध लोग सहजावस्था को भाव और अभाव दोनों से परे की स्थिति मानते हैं। सिद्ध तिल्लेपाद कहते हैं :—

सहजैं भावाभाव ण पुच्छह। सुण्ण करुण वहि समरस इच्छह।।

सिद्ध लोग सहज को निर्वाण से भी अधिक महत्व देते हैं। सरहपाद के अनुसार —

सहज छड्डि जे णिव्वाण भाविउ।

णउ परमत्थ एक्क ते साहिउ।।

— दोहाकोश

'सहज' का सीधा–सादा अर्थ है एक अकृत्रिम स्वाभाविक स्थिति, पर सिद्धों ने सहज को एक ऐसी साधना भी माना जिसमें प्रज्ञा और उपाय के द्वारा परमशक्ति को प्राप्त किया जा सकता है। सिद्धों ने सहज शून्य की धारणा को भी स्वीकार किया है। नाथपंथियों ने जहाँ कहीं सहज शब्द का प्रयोग किया है वहाँ उसे प्रायः स्वाभाविक के अर्थ में ही स्वीकार किया है। गोरखनाथ कहते हैं :–

1. हबकि न बोलिबा, ठबकि न चालिबा, धीरे धरिबा पाव।
गरब न करिबा, सहजै रहिबा, भणत गोरष राव।।

– गोरखबानी, पृ. 11

2. गिरही जो सो गिरहै काया, अभ्यन्तर की त्यागे माया।
सहज शील का धरै शरीर, सो गिरही गंगा का नीर।।

कबीर ने सहज शब्द का प्रयोग अनेक बार किया है। उन्होंने इस शब्द को सिद्धों और नाथपंथियों–दोनों के अर्थों में प्रयुक्त किया है। उन्होंने इस शब्द से प्रायः स्वाभाविक या अकृत्रिम का ही अर्थ लिया है। यही सहज शब्द का सीधा अर्थ भी है। कबीर की सहज साधना में भक्ति का पुट अधिक है। उनके अनुसार सहज भाव से विषयों का त्याग कर देना ही सहज साधना है। जिस रास्ते से सहजतापूर्वक हरि की प्राप्ति हो, वही सहज का रास्ता है:–

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिहि सहजैं बिखया तजै, सहज कहावै सोइ।।
सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिहिं सहजैं साहिब मिलै, सहज कहावै सोइ।।
सहजै सहजै सब गए, सुत बित कांमिनि कांम।
एक मेक होइ मिलि रहा, दास कबीरा रांम।।

– कबीर ग्रंथावली : पारसनाथ तिवारी, पृ. 242

सुरति निरति– ये शब्द संत साहित्य के अति परिचित शब्द है, किन्तु पहले के साहित्य में इनका प्रयोग कम हुआ है। सिद्ध साहित्य में 'सुरति' से मिलते–जुलते शब्द 'सुरअविलास' (सरहपा) तथा सुरअबीर

(कण्हपा) प्राप्त होते हैं। ये शब्द रति अर्थात प्रेमक्रीड़ा के वाचक हैं। गोरखनाथ की रचनाओं में सुरति और निरति– दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग मिलता है। गोरखबानी में सम्मिलित 'मछीन्द्र गोरख बोध' में सुरति शब्द 'सोचित' अर्थात शब्दोन्मुखचित्त के लिए तथा निरति शब्द निरालंब स्थिति के लिए प्रयुक्त हुआ है:–

अवधू सबद अनाहद सुरति सोचित। निरति निरालंभ लागै बंध।
दुबध्या मेटि सहज में रहे। ऐसा विचारि मछिंद्र कहै।।

– गोरखबानी, पृ. 196

संतों द्वारा प्रयुक्त सुरति–निरति शब्द पर नाथपंथी प्रभाव स्पष्ट है। कबीर लिखते हैं :–

सुरति समांणी निरति मैं, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्यंभ दुवार।।
सुरति समांणी निरति मैं, अजपा मांहै जाप।
लेख समांणा अलेख मैं, आपा मांहै आप।।

यहाँ 'निरति' शब्द निरालंब स्थिति के लिए ही प्रयुक्त है। यह स्थिति सुरति की स्थिति के ऊपर है।

'सुरति' और 'निरति' शब्द पर संत साहित्य के मर्मज्ञों ने काफी विचार किये हैं और उनमें मतभेद भी है। डॉ. बड़थ्वाल 'सुरति' का संबंध 'स्मृति' से मानते हैं। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार भी इसका संबंध 'स्मरण' या 'स्मृति' से ही हैं। पं. परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार 'सुरति' का अर्थ 'शब्दोन्मुख' चित्त है। वस्तुतः 'सुरति' शब्द में स्मृति, ध्यान, प्रेम–इन सबका साहचर्य जुड़ा हुआ है। लौकिक विषयों की ओर उन्मुख चितवृत्ति परमप्रिय ईश्वर की ओर उन्मुख होकर 'सुरति' कही जाती है। डॉ. बड़थ्वाल के अनुसार 'निरति' का अर्थ 'पूर्ण तन्मयता' की स्थिति है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार बाह्य भ्रमजाल से निरत होकर अंतर्मुख होने को ही 'निरति' कहते हैं। पं. परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार 'निरति' की दशा शब्द तथा 'सुरति' के एक रूप हो जाने पर ही आती है। उनके अनुसार 'निरति' सुरति की वह चरमावस्था है जहाँ काल के चंगुल से मुक्त होकर सहज समाधिस्थ जीव स्वयं परमात्म रूप हो जाता है।

□□□

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

साहित्य सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मूल्य
डा० राजेन्द्र प्रसाद : एक युग स्मरण	सम्पा० वाल्मीकि चौधरी	200.00
महाकवि अमीर खुसरो	अनु० अब्दुल सत्तार	35.00
भुवनेश्वरः व्यक्तित्व एवं कृतित्व	सम्पा० राजकुमार शर्मा	90.00
क्षेमेंद्र और उनका समाज	डॉ० मोतीचन्द्र	22.00
सुब्रहम्ण्य भारती	सम्पा० डा० एन० सुन्दरम	165.00
साहित्य मनीषी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	डा० रामचन्द्र तिवारी	60.00
भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन चरित्र	राधा कृष्ण दास	48.00
हरिश्चन्द्र	बाबू शिवनन्दन सहाय	100.00
राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त स्मृति ग्रंथ	सम्पा० स्व० डा० ठाकुर प्रसाद सिंह	175.00
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन स्मृति ग्रंथ	सम्पा स्व० श्री कमलापति मिश्र	125.00
आचार्य किशोरीदास वाजपेई स्मृति ग्रंथ	सम्पा० डा० मंजु लता तिवारी	200.00
गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' स्मृति ग्रंथ	सम्पा० डॉ० लक्ष्मीशंकर मिश्र 'निशंक'	165.00
बंशीधर शुक्ल रचनावली	सम्पा० डॉ० श्यामसुन्दर मधुप	378.00
गोस्वामी तुलसीदास	डॉ० रामचन्द्र तिवारी	50.00
रामचंद्र शुक्ल	प्रो० सत्यदेव मिश्र	15.00
राष्ट्रकवि सोहन लाल द्विवेदी	डॉ० राष्ट्रबन्धु	40.00
चंदवरदाई	डॉ० सुमन राजे	50.00
कविवर सुमित्रानन्दन पंत	डॉ० सुरेश चन्द्र गुप्त	52.00
कथाकार यशपाल	डॉ० मनमोहन सहगल	70.00
सुभद्रा कुमारी चौहान	डॉ० प्रतीक मिश्र	55.00
भगवती चरण वर्मा : एक व्यक्तित्व-चित्र	ज्ञान चन्द्र जैन	70.00
अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	डॉ० कन्हैया सिंह	43.00
मैथिलीशरण गुप्त	डॉ० प्रभाकर शुक्ल	50.00
आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी	डॉ० रामेन्द्र पाण्डेय	50.00
सेनापति	डॉ० अनन्त राम मिश्र 'अनन्त'	50.00
गुरु नानक देव	डॉ० मनमोहन सहगल	90.00

सम्पर्क सूत्र

निदेशक, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन, 6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ - 226001

मूल्य रु० 40=00

ISBN : 978-93-89989-03-2